

आलोक-पर्व

आलोक-पर्व

हजारोप्रसाद द्विवेदी



राजकमल प्रकाशन

मूल्य १८००

© हजारोप्रसाद द्विवेदी

प्रथम संस्करण १९७२

प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०

८ पञ्च बाजार, दिल्ली ६

मुद्रक जी० मार० कम्पोजिंग एजेंसी

द्वारा ग्राहारा प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली ३२

आवरण हरिप्रकाश त्यागी

अनुक्रम

अधिकार से जूझना है	६
आलाक पत्र की ज्योतिमय देवी	११
प्राचीन भारत में मदनोत्सव	१५
हिमालय (१)	२०
हिमालय (२)	२६
व्योमकेय शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी	३०
भारत की समन्वय साधना धर्म और दर्शन के क्षेत्र में	३५
प्राचीन ज्योतिष	३६
गावत मत का लक्ष्य—अद्वैत	४४
सविद्रूपा महामाया	६१
तांत्रिक वाट मय में शाक्त दृष्टि	६८
प्राचीन जीवन के सुकुमार विनोद	७३
लोकभाषा में सांस्कृतिक इतिहास की भूली कड़ियाँ	८१
रूप और सौंदर्य के ममज्ञ गायक कालिदास	११५
मध्यम भाग	१२०
स्वागत	१२४
पूर्वी एशिया के तीर्थ यात्रियों का स्वागत	१२८
लोकतंत्र और लोकभाषा	१३४
संस्कृत की कवि प्रसिद्धियाँ	१३८
तिलक का गीता-ज्ञान	१४४

आलोक-
पर्व

अन्धकार से जूझना है ।

न जान कब से मनुष्य के अन्तरगत से दीन रट' निकलती रही, मैं अंधकार से घिर गया हूँ मुझे प्रकाश की ओर ले चलो ।— तमसो मा ज्योतिर्गमय । परंतु यह पुकार शायद सुनी नहीं गई— होत न श्याम सहाय । प्रकाश और अंधकार की आत्ममिचौनी चलती ही रही चलती ही रहगी । यह तो विधि-विधान है । कौन टाल सकता है इस ।

लेकिन मनुष्य के अन्तर्यामी निष्क्रिय नहीं हैं । वे थकते नहीं स्वतः नहीं भुक्त नहीं । वे प्रवीर भी नहीं होते । वनानिक् का विश्वास है कि अनन्त रूपा में विकसित होने होते वे मनुष्य के विवेक रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं । करोड़ा वष लग हैं इस रूप में प्रकट होने में । उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा । स्पर्शद्रव्य से स्वास्त्रेद्रव्य और घ्राणेद्रव्य की ओर और फिर चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रियन्द्रिय की ओर अपने आपको अभिव्यक्त करते हुए मन और बुद्धि के रूप में आविर्भूत हुए हैं । और भी न जाने किन रूपा में अग्रसर हो । वनानिक् का अन्तर्यामी नाम पसन्द नहीं है । क्याचित् वह प्राणायाम कहता पसन्द करे । नाम का क्या भगडा है ?

जीव का काम पुरा काल में सदा से चल जाता था, बाद में उसने घ्राणगति पाई । वह दूर-दूर की चीज़ों का अन्वेषण लगान लगा । पत्थर के भी भिन्न-भिन्न कुछ अघकार था । अन्तर्यामी रट नहीं । घ्राण का जगत फिर स्वास्त्रे का जगत फिर रूप का जगत फिर गन्ध का समार । एक पर एक नए जगत उन्धा टिप होने गए । अघकार में प्रकाश और नी प्रकाश और नी और भी । यही तब क्या अन्त है ? कौन बनाएगा ? कान्हा पुकार अन्त नी जगी है— तमसो मा ज्योतिर्गमय । न जान किने ज्योतिरात् उन्धागति होनवान हैं ।

यह है और ठीक ही बताया जाने कि मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार की गति है। इन्द्रिय गृहीत विषय विभिन्न-विभिन्न रूप में रहते हैं पर यहाँ का ज्ञान ही कमी है। इन विषयों को विभिन्न करने का गति और विविक्तिकरण विषय का अपनी इच्छा से—निरन्तर—नय गिरे में नय प्रसार विस्तार या परम्परागत काश्चित्प्राप्त की प्रक्रिया द्वारा नयी प्रथा प्रवृत्ति प्रत्यक्ष अनुभूति में भिन्न तथा जीव जनन की क्षमता। यह है कि विषय के विविक्तिकरण का परिणाम भाषा काव्य और गीत हैं रूप विषय के विविक्तिकरण के फलस्वरूप उच्चारण ह्रस्व-दीर्घ-व्यंजन आदि विभिन्न और फिर मन्त्र गति द्वारा विविक्तिकरण हान पर चित्र मूर्ति वास्तु वस्त्र, मनकरण साज-सज्जा आदि। यही तरह और भी इन्द्रिय गृहीत विषय का विविक्तिकरण और सन्तुष्टि मयाजन से मानव गृष्ट सहस्रा नई चीजें। यह कोई मामूली बात नहीं है। अम्याम के कारण इनका महत्त्व भुला दिया जाता है पर भुलाना चाहिए नहीं। मनुष्य कुछ भुलकर हो गया है। लेकिन यह बहुत बड़ा दोष भी नहीं है। न भूल तो जीना ही दुर्भर हो जाए। मगर ऐसी बातों का भूलना जरूर बुरा है जो उस जीवन की गति देती है सीधे खड़ा होने की प्रेरणा देती है।

किस दिन एक शुभ मुहूर्त में मनुष्य ने मिटटी के दिये, रई की दाती चक्कर की चिनगारी और बीजों से निकलने वाले स्रोत का संयोग देखा। अधकार को जीता जा सकता है। दिया जलाया जा सकता है। घन अधकार में डूबी धरती को आशिक रूप में आलोकित किया जा सकता है। अधकार से जूझने के संकल्प को जीत हुई। तब से मनुष्य ने इस दिशा में बड़ी प्रगति की है पर वह आदिम प्रयास क्या भूलने की चीज है? वह मनुष्य की दीधकालीन कातर प्रार्थना का उज्ज्वल फल था।

दीवाली याद दिला जाती है उस ज्ञान लोक के अभिनव अक्षुर को जिसने मनुष्य की कातर प्रार्थना को दृढ़ संकल्प का रूप दिया था—अधकार से जूझना है विघ्न बाधाओं की उपेक्षा करके संकटों का सामना करके।

इधर कुछ दिनों से गिथिल स्वर सुनाई देने लगे हैं। लोग कहते हैं—अधकार महाबलवान है उससे जूझने का संकल्प मूढ़ आत्मा मात्र है। सोचता हूँ यह क्या संकल्प गति का पराभव है? क्या मनुष्यता की अवमानना है? दीवाली आकर कह जाती है, अधकार से जूझने का संकल्प ही सही यथार्थ है। मगमरीचिका में मत भटको। अधकार के संकट परत हैं। उससे जूझना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जूझने का संकल्प ही महादेवता है। उसी की प्रत्यक्ष करने की क्रिया का लक्ष्मी की पूजा कहते हैं।

आलोक-पर्व की ज्योतिर्मय देवी

माकण्डेय पुराण के अनुसार समस्त सृष्टि की मूलभूत आद्याशक्ति महालक्ष्मी है। वह सत्व, रज और तम तीनों गुणों का मूल समवाय है। वही आद्याशक्ति है। वह समस्त विश्व में व्याप्त होकर विराजमान है। वह लक्ष्य और अलक्ष्य इन दोनों रूपों में रहती है। लक्ष्य रूप में यह चराचर जगत् ही उसका स्वरूप है और अलक्ष्य रूप में यह समस्त जगत् की सृष्टि का मूल कारण है। उसी से विभिन्न शक्तियाँ का प्रादुर्भाव होता है। दीपावली को इसी महालक्ष्मी का पूजन होता है। तामसिक रूप में वह क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, कालरात्रि, महामारी व रूप में अभिव्यक्त होती है। राजसिक रूप में वह जगत् का भरण-पापण करनेवाली श्री के रूप में उन लोगों के घर में आती है जिन्होंने पूरे जन्म में शुभ-कर्म किए होते हैं, परन्तु यदि इस जन्म में उनकी वृत्ति-पाप की ओर जाती है तो वह भयंकर अलक्ष्मी बन जाती है। सात्विक रूप में वह महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती के रूप में अभिव्यक्त होती है। मूल आद्याशक्ति ही महालक्ष्मी है।

शास्त्रों में ऐसे वचन भी मिल जाते हैं जिनमें महाकाली या महासरस्वती को ही आद्याशक्ति कहा गया है। जो लोग हिंदू शास्त्रों की पद्धति से परिचित नहीं होते वे साधारणतः इस प्रकार की बातों को देखकर कह उठते हैं कि यह बहुदेववाद है। यूरोपियन पंडितों ने इसके लिए पालिथीज्म शब्द का प्रयोग किया है। पालिथीज्म या बहुदेववाद से एक-एक घम का बोध होता है जिसमें घन-छाट उड़े देवताओं की मण्डली में विश्वास किया जाता है। इन देवताओं की मर्यादा और अधिकार निश्चिन्ने होते हैं। जो लोग हिंदू शास्त्रों की थोड़ी भी गहराई में जाना आवश्यक समझते हैं वे इस बात को कभी नहीं स्वीकार

पर सप्त । भागमूलर १ बहुत पहल बताया था कि यन्त्र म पादा जानवाना 'बहुव्या' वस्तु बहुत क्या है ही नहीं, क्योंकि न तो यह श्रीरामन बहुव्याद व समान है जिनमें बहुत-सा देव स्त्री एर महाश्वता व अधीन हान है और १ अधीन आदि दान की प्रतिम जानिया म पाए जानेवाले बहुव्या व समान है जिसमें छोटे मोटे प्राण देवता स्मृत हो हैं । भागमूलर १ इस विश्वास के लिए एक नाम सुभाषा था—हाथी म जिस हिन्दी म एकरव या' नाम का कुछ-कुछ स्पष्ट किया जा सकता है । इस प्रकार व धार्मिक विश्वास म अनन्त देवता की उपासना हानी अवश्य है पर जिस देवता की उपासना चलती रहता है उस ही सार देवतामा स श्रेष्ठ और सज्ज हनुभूत माना जाता है । जैसे जब इंद्र का उपासना का प्रसंग होगा तो कहा जाएगा कि इंद्र ही आदि देव है वरुण यम भूय चंद्र अग्नि सबका वह स्वामी है और सबका मूलभूत है । पर जब अग्नि की उपासना का प्रसंग होगा तो कहा जायगा कि अग्नि ही मुख्य श्वता है और इंद्र वरुण आदि का स्वामी है और सबका मूलभूत देवता है इत्यादि ।

पर तु थोड़ी और गहराई म जाकर देता जाय तो इसका स्पष्ट रूप अद्वैतवाद है । एक ही देवता है जो विभिन्न रूपों म अभिव्यक्त हो रहा है । उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूप का ध्यान किया जाता है वही समस्त अर्थ रूपों म मुख्य और आदिभूत माना जाता है । इसका रहस्य यह है कि साधक सदा मूल अद्वैत सत्ता व प्रति सजग रहता है । अपनी रचि और सस्कारा और कभी कभी प्रयोजन के अनुसार वह उपास्य व विविष्ट रूप की उपासना अवश्य करता है पर तु शास्त्र उसे कभी भूलने नहीं देना चाहता कि रूप कोई हो है वह मूल अद्वैत सत्ता की ही अभिव्यक्ति । इस प्रकार हिन्दू शास्त्रा की इस पद्धति का रहस्य यही है कि उपास्य वस्तुतः मूल अद्वैत सत्ता का ही रूप है । इसी बात को और भी स्पष्ट करके ब्रह्म ऋषि ने कहा था कि जो देवता अग्नि म है जल म है वायु म है औषधिया म है वनस्पतिया म है उसी महा देव का मैं प्रणाम करता हूँ ।

आज म कोई दा हजार वर्ष पहले से इस देश के धार्मिक साहित्य म और गिल्प और कला म यह विश्वास मुखर हो उठा है कि उपास्य वस्तुतः देवता की शक्ति होती है । यह नही है कि यह विचार नया है पहले था ही नहीं पर उपासना धार्मिक साहित्य और गिल्प और कला सामग्री म यह बात इस समय म अधिन व्यापक रूप म और अत्यधिक मुखर भाव से प्रकट हुई दिखती है । इस विश्वास का सज्ज दान आवश्यक अंग यह है कि शक्ति और शक्तिमान म

कोई तात्त्विक भेद नहीं है दोनों एक हैं । चन्द्रमा और चन्द्रिका की भाँति वे अलग अलग प्रतीत होकर भी तत्त्वतः एक हैं—अतएव नव जानीमश्चन्द्र चन्द्रिकयोरिव । पर तु उपास्य शक्ति ही है । जो लोग इस विश्वास का अपनी तकसम्मत सीमा तक सोचकर ल जाते हैं, वे शक्ति कहलाते हैं । जो शक्ति और शक्तिमान् के एकत्व पर अधिक जोर देते हैं वे शक्ति नहीं कहलाते । मगर कहलाते हा या न कहलाते हा, शक्ति की उपास्यता पर विश्वास दोनों का है । जिन लोगों ने समार की भरण पोषण करनेवाली वैष्णवी शक्ति को मुख्य रूप में उपास्य माना है उन्होंने उस आदिभूता शक्ति का नाम महालक्ष्मी स्वीकार किया है । दीपावली के पुण्य पर्व पर इसी आद्याशक्ति की पूजा होती है । दश क पूर्वी हिस्सा में इस दिन महाकाली की पूजा होती है । दाना वाता में कोई विरोध नहीं है । केवल रचि और सस्वार के अनुसार आद्याशक्ति के विगिष्ट रूपा पर ध्यान दिया जाना है । पूजा आद्याशक्ति की ही होती है । मुझे यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि देश के किसी कोने में इस दिन महासरस्वती की पूजा होती है या नहीं । होती हा तो कुछ अक्षरज की बात नहीं होगी । दीपावली का पर्व आद्याशक्ति के विभिन्न रूपा के स्मरण का दिन है ।

यह सारा दृश्यमान जगत् ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में त्रिपुनोद्भूत है । ब्रह्म की मूल शक्ति में इन तीनों का सूक्ष्म रूप में अवस्थान होगा । त्रिपुनोद्भूत जगत् की मूल कारणभूता इस शक्ति का त्रिपुरा भी कहा जाता है । आरम्भ में जिस महालक्ष्मी कहा गया है उसमें यह अभिन्न है । ज्ञान रूप में अभिव्यक्त होने पर यह सत्त्वगुणप्रधान सरस्वती के रूप में इच्छा रूप में रजोगुण प्रधान लक्ष्मी के रूप में और क्रिया रूप में तमोगुण प्रधान काली के रूप में उपास्य होती है । लक्ष्मी इच्छा रूप में अभिव्यक्त होती है । जो साधक लक्ष्मी रूप में आद्याशक्ति की उपासना करते हैं उनके चित्त में इच्छा तत्त्व की प्रधानता होती है पर बाकी दो तत्त्व—ज्ञान और क्रिया—भी उसमें सहायक होंगे हैं । इसीलिए लक्ष्मी की उपासना ज्ञानपूर्वा क्रियापरा होती है प्रधान वह ज्ञान द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमन इच्छा शक्ति की उपासना होती है । 'ज्ञानपूर्वा क्रियापरा' का मतलब है कि यद्यपि इच्छा शक्ति ही मुख्यतया उपास्य है, पर पहले ज्ञान की सहायता और बाद में क्रिया का समयन इसमें आवश्यक है । यदि ज्ञान हा जाय, अर्थात् इच्छा शक्ति की उपासना क्रियापूर्वा और ज्ञानपरा हा जाय तो उपासना का रूप बन जाता है । पहली प्रवस्था में उपास्य लक्ष्मी समस्त जगत् के उपकार के लिए होती है । उस लक्ष्मी का वाहन गरुड होता है । ~~नरक~~ शक्ति वेग और

सेवावृत्ति का प्रतीक है । दूसरी अवस्था में उसका वाहन उल्लू होना है । उल्लू स्वाय, अधकारप्रियता और विच्छिन्नता का प्रतीक है । लक्ष्मी तभी उपास्य होकर भक्त को ठीक-ठीक कृतकृत्य करती है । तब उसके चित्त में सत्त्व कल्याण की कामना रहती है । यदि केवल अपना स्वाय ही साधक के चित्त में प्रधान हो, तो वह उलूकवाहिनी शक्ति की ही कृपा पा सकता है । फिर तो वह तमोगुण का विकार हो जाता है । उसकी उपासना लाककल्याण मार्ग से विच्छिन्न होकर बर्णा हो जाती है । दीपावली प्रकाश का पत्र है । इस दिन जिस लक्ष्मी की पूजा होती है वह गरुडवाहिनी है—गति सेवा और गतिशीलता उसके मुख्य गुण हैं । प्रकाश और अधकार का नियत विरोध है । अमावस्या की रात को प्रयत्नपूर्वक लाख लाख प्रदीपा को जलाकर हम लक्ष्मी के उलूकवाहिनी रूप की नहीं, गरुडवाहिनी रूप की उपासना करते हैं । हम अधकार का समाज से बटकर रहने का स्वायपरता का प्रयत्नपूर्वक प्रत्याख्यान करते हैं और प्रकाश का सामाजिकता का और सेवावृत्ति का आह्वान करते हैं । हम भूलना न चाहिए कि यह उपासना पाप द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित होकर ही साधक होती है—

सर्वहया दया महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमे यरी ।

लभ्यालभ्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्न व्यवस्थिता ॥

प्राचीन भारत मे मदनोत्सव

सम्पन्न के किसी भी काव्य नाटक क्या और आख्यायिका को पन्थिए वसन्त ऋतु का उत्सव उत्तम किसी-न-किसी बहाने अवश्य आ जायेगा। कानिनाम ता वसन्तोत्सव का बहाना ढूँढ रहे-म लगत हैं। मेघदूत वर्षा ऋतु का काव्य है पर यक्षप्रिया व उद्यान व वन के प्रसंग में प्रिया व नूपुरयुक्त वामचरणा व मदुन घाघात में कंधे पर से फूँ उठनवान अगोक और मुग्ध-मन्त्रि ने मिचकर विल उठन का चालाकित वकुल की चर्चा उमम आ ही गई है। वसन्त अगोक और वकुल का इस प्रकार खिला दन का उत्सव वसन्त में ही मनाया जाता था। वसन्त का समय प्राचीन भारत में उमरा का काल हुआ करता था। कामभूषण में इस समय के कई उत्सवों की चर्चा आती है। इनमें से बहुत प्रसिद्ध हैं—मदनोत्सव और सुवसन्त। कामभूषण के टीकाकार पद्माधर ने जाना की एक मान लिया है पर प्रत्यक्ष में स्पष्ट है कि ये दोनों उत्सव धन्य धन्य जिन का मनाए जाते थे। भोजन के अनुसार मवसन्त वसन्तानार या उत्सव है—भाजकल का वसन्तपक्षमी का उत्सव। मन्नागव होयी व रूप में भाज भी पूरे उमाह व साथ मनाया जाता है। वास्यायन व कामभूषण में भी इनका उल्लेख है।

पुनर्गण प्रथा में पाया चलता है कि फागुन से आरम्भ करके चैत्र व महीन तक वसन्तोत्सव कई प्रकार से मनाया जाता था। इनमें दो रूप बहुत प्रसिद्ध थे। एक सावत्रनिक भूम धाम का और दूसरा कामभूषण व पूजन का। मन्नाट्ट हस्त्य की रत्नावली नाटिका में इन दोनों प्रकार के उत्सवों का बड़ा ही मरत और जीवन्त वर्णन मिलता है। उम जिन सारा नगर पुष्पाभिरा की वस्तुन ध्वनि मधुर गीत और मृग व मादक धाम से मुग्धगि हा उठता था।

नागर जन मदमत्त हो उठते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सबसे ऊँची च दशाला में बैठकर नगरवासियों के आमोद प्रमोद का रस लेते थे। नागरिकाएँ मधुमास से मत्त होकर सामने पड़ जानेवाले किसी भी पुरुष को पिचकारी (शृगक) के रगीन जल से सराबोर कर देनी थीं। राज मार्गों के चौराहों पर मदल नाम के ढोल और चचरी गीत की ध्वनियाँ मुखरित हो उठती थीं। सुगन्धित पिष्टातक (शबीर) से दिखाएँ रगीन हाँ उठती थीं। केसर मिश्रित पिष्टातक से राजपथ और प्रासाद इस प्रकार आच्छादित हो उठते थे कि प्रातः कालीन उषा की छाया का भ्रम होने लगता था। नागरजनों के शरीर पर शोभमान हेमालकार और सिर पर धारण किए हुए अंगोव के लाल लाल फूल इस सुनहरी आभा का और भी बढ़ा देते थे। ऐसा जान पड़ता था कि कुन्वर का भी अपनी समृद्धि से जीतन का दावा करनेवाली सारी नगरी सुनहरे रंग में डूबी दी गयी है—

कीर्णो पिष्टातकीध कृतदिवसमुख कुकुमस्नात गौर
हेमालकारमाभिभरनमितगिह नेसर ककिरात ।
एषा वेपाम्लक्ष्यस्वमवनविजितापेयवित्तैः शकोपा
कौणाम्बी गातकुम्भद्रवखचितजनेवकपोता विभाति ।

रत्नावलि—१११

उस दिन बड़े घराब सामन आँगन में फव्वारे पूरे वेग से छूटते रहते थे और नागरिकाएँ भी अपनी पिचकारी में पानी भरने की उन्नाम लानसा को पूरा करने में सहायक हँसा करते थे। कम स्थान पर पौर कुयनियाँ कबरावर आने रहते स उनका सीमांत का मिर्दूर और काला का अंगोव भरते रहते थे और मारा फल लाने की वजह से भर जाता था फल मिर्दूरमय हो उठता था—

धारापत्रविमुक्कनमतनपय धूरप्पुते सयन
सदय साद्विमदकदमकृतक्रोड क्षण प्रांगण ।
उद्दामप्रमत्ताकपालनिपनन मिर्दूर रागादण
सङ्करोक्रियते जनन चरणपास पुर कुट्टिमम ॥

मगर कम उन्नाम का गवापित हँसी की वार-वनिताएँ व मुन्नाम का वजन में मिलता है। मिम्मा यहाँ हानी का पुराना रूप है।

मगर मय ही कम उन्नाम का एक गान्त मिनय विषय में मिलता है।

ही बनाया जाता था—इसका मुख्य केन्द्र हुआ करता था। इसमें कामदेव का मंदिर हुआ करता था। इसी उद्यान में नगर के स्त्री पुरुष एकत्र होकर भगवान् कन्दर्प की पूजा करते थे। यहाँ पर लोग अपनी अपनी इच्छा के अनुसार फूल चुनते, माला बनाते, अवीर-कुंकुम से क्रीड़ा करते और नृत्य गीत आदि सभ्यताविनाश किया करते थे। इस मंदिर में प्रतिष्ठित परिवारा की कन्याएँ भी पूजनाय आया करती थी और मदन देवता की पूजा करके मनो वाञ्छित वर की प्रार्थना करती थी। जनता की भीड़ प्रातःकाल से ही शुरू हो जाती थी और संध्याकाल तक अबाध गति से आती रहती थी। मालती माधव सपना चलता है कि अमाल्य भूस्विसु की कन्या मातृती भी इस उद्यान में कन्दर्प-पूजन के लिए आई थी। इस पूजन में धार्मिक बुद्धि की प्रधानता होती थी और शोरगुल और हड़दंग का नाश भी नहीं था। यह मंदिर नगर के बाहर हुआ करता था।

मदन देवता की एक पूजा चैत्र के महीने में होती थी। अशोक वन के नीचे मिट्टी का कलश स्थापित किया जाता था। सफेद चावल भरे जाते थे। फलों और ईश्वर का रस इस पूजा में नवछ थे। कलश को सफेद वस्त्र में ढका जाता था। चन्दन भी उस पर सफेद ही छिड़का जाता था। कलश के ऊपर ताम्र पत्र पर केलों के पत्ते रखे जाते थे जिस पर कामदेव और रति की प्रतिमा उतारी जाती थी और नाना भाति के गंध धूप नृत्य गीत आदि सभ्यताओं को तप्त किया जाता था। यह मत्स्यपुराण की बात है। उसके दूसरे दिन इन शुक्ल अर्धांगी को भी पूजा होती थी। लोग प्रत रक्षते थे।

शिल्परत्न, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि ग्रंथों में कामदेव की प्रतिमा उतारने की विधियाँ दो गई हैं। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उसके आठ भुज हैं, चार पत्नियाँ परन्तु शिल्परत्न में केवल यही कहा गया है कि वह अपूर्व सुन्दर हो और उसकी धारियाँ और अभिलाषवती रति और दाहिनी धार गह्वरम निरता प्रीति ये दो पत्नियाँ हैं। स्थायी मन्दिर में दोनों प्रकार की मूर्तियाँ बननी थीं पर अशोक वन के नीचे जा मूर्ति बननी थी वह द्विभुज ही होती होगी। रत्नावली नाटक में राजा को अशोक वन के नीचे बड़ा देखकर रत्नावली का भ्रम हो गया था कि कामदेव मात्मान आकर पूजा ग्रहण करते हैं।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र और श्री हयदेव की रत्नावली में उत्सव के सर्वाधिकार सरस अनुष्ठान अशोक वन में पुष्प ले आने का विवरण मिल जाता है। भोजराज और श्री हयदेव की गवाही पर कहा जा सकता है कि उस दिन सुन्दरियाँ कुसुम भी रंग की साड़ी पहनती थी। तुरन्त स्नान कर

से रानी वामनन्ता की गरीर कात्ति और भी निम्बर भाई की वह कीमुभ राग से रजित साड़ी पन्नकर जत्र अगोक्त वश म नीच वामनन्ता की पूजा कर रही थी ता उसकी साड़ी का लाल पल्ला पड़फड़ा उठा था । उम समय राजा की आमा लगा था जमे तरुण प्रवाल विटप की लता ही लहरा उगी हो—

प्रत्यग्रमज्जनविशेष विविक्त कात्ति

कीमुम्भरागरचिरस्फुरदगुकाता ।

विभ्राजते मकरकेतनमच्चयती

मालप्रयातविटपिप्रभया लतेष ।

मालविकाग्नि मित्र स पता चलता है कि मन्त्र देवता की पूजा क बात ही अगोक्त म फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था । रत्नावली म भी उसकी चर्चा है । इस अनुष्ठान का रूप इस प्रकार था—कोई गुन्गरी सर्वाभरण भूषिता होकर परो को अलक्तकराग से रजित करके नूपुर सहित बायें चरण से अशोक वक्ष पर आघात करती थी । इधर नूपुरा की टूकी भनभनाहट उधर अगोक्त का सोल्लाम कंधे पर से ही पून उठता । साधारणत रानी यह काय करती थी । पर मालविकाग्निमित्र म बताया गया है कि उस रानी क परा म चोट आ गई थी, इसलिए उहान मानविका को भेज दिया था । मालविका अगोक्त वश के पास गई पल्लवा का गुच्छा हाथ स पकड़ा और बायें पैर से अगोक्त पर मद्धु आघात किया । कालिदास की लेखनी ने इस मादक चित्र का अपूर्व गरिमा स भर दिया है ।

परब्रह्म की उम मानसिक इच्छा का जो ससार की सृष्टि म प्रवृत्त होनी है मूर्तरूप ही काम है । जत्र यह सृष्टि रचना क अनुकूल होता है तो विष्णु और शिव का साक्षात रूप बही जानी है । गीता म श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं जीवमान म धर्म क अविच्छेद रहने वाला काम हूँ परन्तु जो व्यक्तिगत अच्छा धर्म क विच्छेद जानी है वह अप्रदेवता है । काम का एक रूप धर्म क अविच्छेद जान वाला है दूसरा धर्म क विच्छेद जाने वाला । पहला साक्षात विष्णु रूप है । ब्रह्ममहिता म कहा गया है कि जो आनन्द और चैतनामय रस स मन का भरता है प्राणिया क मन म स्मर या काम रूप से प्रतिफलित होता है और इस प्रकार अगोक्त भवना का जीतकर नित्य विराजमान है उस आत्मा पुष्प गाविन्द को मैं स्मरण करता हूँ (४६) । मत्स्यपुराण म कामनाम्ना हरिहर की कत्कर बनाया गया है कि वस्तुतः काम नामक हरि की ही पूजा की जानी है । इसलिए मन्त्रि और मूर्ति बनाकर जिस देवता की पूजा की जानी है वह सा तान विष्णु ही हैं । श्री कृष्ण गायत्री और काम गायत्री म कोई एक

नहीं है।

परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विवेक को दबा देता है। पश्चिम में 'किउपिद' नामक देवता (या अपदेवता) को अधा माना गया है क्योंकि वह विवेक को नष्ट करता है, मनुष्य को अधा बना देता है। शिव ने इसी भावक मदन देवता को भस्म किया था। उसके भावात्मक 'मनसिज' रूप को बचा लिया था। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्रों में वार वनिताओं के लिए जिस मदन मूर्ति का विधान किया गया है उसकी आवा पर सोन के पत्तर की पट्टी बंधवा दी जाती है! 'किउपिद' देवता की तरह उस अधाता नहीं कहा गया पर अधे-जसा बना अवश्य दिया गया है। हैमनन परावतम में पट्टी सोन की हाने पर भी दृष्टि शक्ति का अभाव तो हो ही जायगा। कामदेव वसंत ऋतु का मित्र है। परन्तु कुमारसम्भव में वर्णित वसंत अकाल का वसंत है अस्वाभाविक, बलादानीत, अपदेवता। शिव ने इसी को नान के नेत्र उन्मीलित करके भस्म किया था।

शास्त्रों में काम के वाण और धनुष फलों का बताया गया है। अरविन्द अशोक आम नवमालिका और नीलोत्पल ये उसके पांच वाण हैं जिन्हें क्रमशः उमादन तापन, शीपण स्तम्भन और सम्मोहन भी कहा गया है।

सम्राट की लगभग सभी सभ्य आदिम जातियों में वसंतकाल में उद्दाम यौवनोन्मात् के उत्सव पाये जाते हैं। कहीं-कहीं ये उत्सव बहुत ही म्यूल यौन वामना के रूप में पाये जाते हैं कहा समय और सुखिपूर्ण रूप में। प्राचीन भारत में इस उत्सव का उद्दाम रूप का समय सुखिपूर्ण और धर्माविरुद्ध देवता का रूप में सौंदर्य का सफल प्रयत्न किया गया था। अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लोगों में सदा वह भीमातिश्रमण करक प्रकट होता रहा और दुर्भाग्यवश अब भी किसी न किसी रूप में जी रहा है परन्तु इस सहज उद्दाम लीला का शांत, समय और शिष्ट रूप में ढालन का प्रयत्न अवश्य ही इलाध्य माना जायगा। आदिम सहजात वस्तियों को सुखिपूर्ण, समय और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य मनुष्य बना है नहीं तो वह पशु ही रह गया होता। प्राचीन भारत के मन्नात्सव में मनुष्य के इस प्रयत्नशील तत्त्व की ही चरित्रायता प्राप्त होती है।

से रानी वामवन्ता की गरीर कांति और भी निखर आइ थी वह कीसुभ राग में रजित साजी पहनकर जब अशोक वक्ष के नीचे कामदेव की पूजा कर रही थी तो उसका साड़ी का लाल पल्ला फड़फड़ा उठा था । उस समय राजा को ऐसा राग था जैसे तरुण प्रवाल विटप की लता ही लहरा उठी हो—

प्रत्यग्रमज्जनविशेष विविक्त कांति

कीमुष्मरागहचिरस्फुरदनुकांता ।

विभ्राजसे मकरकेतनमच्चयती

बालप्रवालविटपिप्रमदा लतेव ।

मालविकाग्नि मित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अगोक्ष में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था । रत्नावली में उसकी चर्चा है । इस अनुष्ठान का रूप इस प्रकार था—कोई सुंदरी सर्वाभरण भूषिता होकर परा को अलकनकराग से रजित करके नूपुर सहित बायें चरण से अगोक्ष वक्ष पर आघात करती थी । इधर नूपुरा की हल्की भनभनाहट उधर अगोक्ष का सोल्लाम कंधे पर से ही फूल उठना । साधारणतः रानी यह कार्य करती थी । पर मालविकाग्नि मित्र में बताया गया है कि उस रानी के परा में घाट आ गई थी इसलिए उन्होंने मालविका का भेज दिया था । मालविका अगोक्ष वक्ष के पास गई पल्लवा का गुच्छा हाथ से पकड़ा और बायें परा से अगोक्ष पर मधु आघात किया । कालिदास का लेखनी ने इस मादक चित्र का अक्षुब्ध गरिमा से भर दिया है ।

परब्रह्म की उस मानसिक इच्छा का जो समार की सृष्टि में प्रवृत्त होनी है भूतरूप ही काम है । जब यह सृष्टि रचना का अनुकूल हानी है तो विष्णु और शिव का साक्षात् रूप बही जाती है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं जीवमात्र में धर्म का अविच्छेद रहने वाला काम हूँ परन्तु जो व्यक्तिगत इच्छा धर्म के विच्छेदजाना है वह अप्रत्यक्ता है । काम का एक रूप धर्म का अविच्छेद जान वाला है दूसरा धर्म का विच्छेद जाने वाला । पहला साक्षात् विष्णु रूप है । ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि जो आनन्द और चतुर्नामय रस से मन का भरता है प्राणिया का मन में स्मरण या काम रूप से प्रतिफलित जाना है और उस प्रकार अगण भुवना का जीवनर नियम विराजमान है उस आदि पुरुष गायित्र का मैं स्मरण करता हूँ (४६) । मरम्यपुरुष में कामनाम्ना हरेरर्चो बन्कर बनाया गया है कि वस्तुतः काम नामक हवि का ही पूजा या जानी है । तन्मित्र मन्त्र और मूर्ति बनाकर जिस देवता की पूजा की जाना है वह मातान विष्णु ही है । श्री कृष्ण गायत्री और काम गायत्री में कोई फरक

नहीं है।

परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विषय को दवा देता है। पश्चिम में किउपिद् नामक देवता (या अप्रदेवता) को अधा माना गया है क्योंकि वह विषय को नष्ट करता है मनुष्य को अधा बना देता है। शिव ने इसी मादक मदन देवता को भस्म किया था। उसके भावात्मक 'मनसिज' रूप को बचा लिया था। यह आश्चर्य की बात है कि हमारे शास्त्रों में वारचनित्ताग्र के लिए जिस मदन मूर्ति का विधान किया गया है, उसकी आंगूठा पर सोने के पत्तर की पट्टी बंधवा दी जाती है। 'किउपिद' देवता की तरह उस अधा तो नहीं कहा गया पर अधे-जसा बना अवश्य दिया गया है। हेमनेत्र परावतम में पट्टी सोने की हाने पर भी दृष्टि शक्ति का अभाव तो हो ही जायगा। कामदेव वसन्त ऋतु का मित्र है। परन्तु कुमारसम्भव में वर्णित वसन्त अकाल का वसन्त है, अस्वाभाविक, बलादानोत्त अप्रदेवता। शिव ने इसी को ज्ञान के नेत्र उमीलित करके भस्म किया था।

शाम्भो में काम के वाण और धनुष फला के बताया गये हैं। अरविन्द, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलात्पल, ये उसके पाँच वाण हैं जिन्हें प्रमत्त उन्मादन तापन, तापण स्तम्भन और सम्मोहन भी कहा गया है।

सप्ताह की लगभग सभी सम्य आदिम जातियाँ में वसन्तकाल में उद्दाम यौवनोन्माद के उत्सव पाये जाते हैं। कहीं-कहीं ये उत्सव बहुत ही स्थूल यौन वासना के रूप में पाये जाते हैं कहीं सयत और सुरुचिपूर्ण रूप में। प्राचीन भारत में इस उत्सव के उद्दाम रूप का सयत, सुरुचिपूर्ण और धर्माविरुद्ध देवता के रूप में सँवारने का सफल प्रयत्न किया गया था। अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लोगों में सदा वह सीमानिश्चय करके प्रकट होता रहा और दुभाग्यवश अब भी किसी न किसी रूप में जी रहा है परन्तु इस सहज उद्दाम लीला को शांत सयत और शिष्ट रूप में ढालने का प्रयत्न अवश्य ही श्लाघ्य माना जायगा। आदिम सहजात वक्तियों को सुरुचिपूर्ण सयत और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य मनुष्य बना है नहीं तो वह पशु ही रह गया होता। प्राचीन भारत के मदनोत्सव में मनुष्य के इस प्रयत्नशील तत्त्व की ही चरित्राथता प्राप्त होती है।

हिमालय [१]

रामायण और महाभारत हमारी सम्पत्ता और सस्कृति के अक्षय भण्डार हैं। इन ग्रंथों में देवतात्मा नगाधिराज हिमालय की चर्चा अनेक रूपों में पाई जाती है। इस पर्वत के प्रत्येक शिखर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक सरोवर के विषय में और उन के इंद गिद रहने वाली जातियों के विषय में व्योरेदार चर्चा है। ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पूज्य इन विषयों के संबंध में हम से कहीं अधिक स्पष्ट और सच्ची जानकारी रखते थे। यह भी जान पड़ता है कि भारतीय जनता—जिसे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महामानव समुद्र कहा है—इन हिमालयवासी लोगों के बहुतरे वगधरा को अपने भीतर आत्मसात कर चकी है। हिमालय में बसने वाली जातियों के सत्रध में महाभारत और रामायण में बड़ी प्रीत भावना का परिचय मिलता है। उन्हें देवयोनी का जीव माना गया है। उनके शील और कलाप्रियता की प्रशंसा की गई है उनके गीत की उच्छवसित प्रशंसा की गई है और मलेच्छ असुर आदि विदेगियों की तुलना में अधिक धर्म परायण और आत्मीय समझा गया है। कभी-कभी इन जातियों के साथ मदान के रहने वाला का संबंध भी बताया गया है पर अधिकतर ये जातियाँ सहायक और मित्र के रूप में चित्रित हैं। इन जातियों के वगधर भारतीय मदान में उच्च कुलीनक्षत्रिय राजवर्ग के रूप में सम्मानित हुए हैं और भारतीय धर्म और सस्कृति के पुरस्कर्ता और रक्षक बताये गए हैं। वस्तुतः हिमालय पर्वत की विभिन्न उपत्यकाओं में बसनेवाली जातियाँ सदा आत्मीय समझी गई हैं। इनके सम्बंध में जो बहुत सी पौराणिक लगनेवाली अनुश्रुतियाँ मिलती हैं वे कुछ तो उही जातियों में प्रचलित कथाओं का भारतीय रूपांतर हैं और कुछ उनके प्रति प्रीतिभाव के अतिरेक के कारण गढ़ भी गढ़ हैं। ज्यों ज्यों विद्वानों का अनु

सधान इस दिग्ग म अग्रसर होना जा रहा है, त्या-त्या हमारे पूवजा की जान कारी आश्चयचकित करनेवाली सिद्ध हो रही है ।

रामायण की कथा अयोध्या से चलकर लका की ओर बढ़ती है । स्वभावतः वह भारत के मध्य देश और सुदूर दक्षिण के प्रदेशों से अधिक सम्बद्ध है । पर किसी-न किसी वहाने हिमालय उसमें आता ही रहता है । परन्तु महाभारत की कथा उत्तर भारत की कथा ही है । पश्चिम से पूव तक फने हुए हिमालय की चचा इस ग्रन्थ में अनेक बार आई है । वस्तुतः चन्द्र वंश की कहानी का आरम्भ ही हिमालय से होता है । पश्चिमी पूर्वी और मध्य हिमालय के स्थाना और जानियों का इसमें बहुत विस्तृत और विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता है जो चीनी और अरबी यात्रियों के विवरणों और तब स्थाना से प्राप्त होने वाली परम्पराओं से विचित्र मेल रखता है । रामायण और महाभारत में हिमालय के उत्तर में स्थित देगा और जातियाँ की भी चर्चा है और आधुनिक अनुसंधान से सिद्ध हो रहा है कि विश्वसनीय भी है । दुर्भाग्यवश साधारण जनता अभी तक इन कहानियों को उचित ऐतिहासिक परिपाद्य में रखकर देखने की दृष्टि नहीं पा सकी है और या तो उन्हें दैवताओं की कहानियों मानती है या पौराणिकों की कपोल कल्पना । ठीक ऐतिहासिक परिपाद्य में समझने का प्रयत्न किया जाए तो जान पड़ेगा कि हिमालय ने हमें कितना दिया है । केवल नदियाँ और अन्य भौतिक सम्पत्तियों के कारण ही हम उसे अपनी अमूल्य निधि नहीं मानते उसने भारतीय धर्म सस्कृति और जनता को अतृप्त ढंग से प्रभावित किया है । वह हमारे अंतरात्मा के साथ एकमेक है । वह हमारा प्रहरी नहीं है हमारी अंतरात्मा का अभिन्न अंग भी है । वह शिव पावती की विहार भूमि है नर-नारायण की तपो भूमि है यश-किन्नर गंधर्व विद्या धरा का निवास है । सहस्र-सहस्र ऋषि मुनियों की आश्रम भूमि है गंगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र सिन्धु सरस्वती की उदगम भूमि है । इस छोटी सी वाता में नगाधिराज हिमालय की महिमा और हमारी सस्कृति से उसके अविच्छेद्य पवित्र संबंधों का महत्त्व दिखाना असम्भव है । यहाँ कुछ थोड़ी सी बातों की चर्चा करके ही सतोष करना पड़ेगा ।

भारतवर्ष की सती नारियाँ का आदर सारा ससार करता है । क्या कारण है कि भारतीय नारी की मर्यादा उसका सतीत्व तज और उत्तम चरित्र इतना लोकमान्य है ? पावती और सीता का भुवनविश्रुत लोकभावन आदर्श । पावती तो नाम से ही प्रकट है कि पवत-कन्या है । हिमालय की पुत्री पावती का नाम ही नारी चरित्र की सम्पूर्ण शोभा गरिमा माधुर्य और पवित्रता की याद दिलाता है । रामायण के बालकांड में बताया गया है कि हिमालय की दो

क्या। —पावनी घोर गंगा—सिंह प्रसार हम पवित्र भारत भूमि का भीतर घोर घोर ग पवित्र कर रही है। यही वह भी बताया गया है कि सिंह प्रसार गंगा की मान धारण सीत पवित्र की घोर भीतर पूर की घोर घोर एक मध्य रूप का पवित्र घोर ममद बताया है। गंगा यमुना भाग की सभी नदिया का नाम है। मध्य रूप का गंगा यह मूल स्रोत है जो भगवत् गंगा की अन्तर्गत नाम्ना में भरती पर उतरा है। हिमालय का यह रूप हीमा प्रसार भारतीय भूमि घोर भारतीय जनसिंह ममद नहाती जा मरती। पावनी का एक नाम उमा म जो उपनिषद् मानस ही प्रसिद्ध है। आधुनिक गंगा स गंगा पता है कि यह एक सिमान्त परवर्ग यानी महान् गंग जाति की भाषा से आया है। वार्ध आन्तर्य नहा कि कामरूप म गा धार तन पन हुए पवनीय प्रत्ये गिय का अस्तित्वता पावती रूप की उपासना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन्द है। गारी सिमान्त भूमि अन्तरि पान स गंगत बन्द रही है। तपानिस्ता कुमारी पावनी न अगस्त्य मुनि की प्राप्ति पर कैलाश न कुमारी अन्तरीय तन पन्न यात्रा की था इसलिए पुराणों में भारतवर्ष का एक भूमि का नाम ही कुमार का द्वीप बताया गया है और गवपूवक घोषणा की गई है कि तपानिस्ता पावती के पवित्र पञ्चचार से पावनीकृत इस भूमि में ही वन-व्यवस्था है। इसके बाहर ता अत्यजा का बाद में उपास होनवान पिछले हुए अगस्त्य लोग का निवास है। भास्वराचार्य ने पुराणों की सारा क्या का उपमहार एक पवित्र म कर दिया है—वणव्यवस्थितिरिहैव कुमारिवाग्य नेषपु चायज जना निवसन्ती सर्वे। इस प्रकार पावती और गंगा हमारे अस्तित्व का ही मरदण्ड हैं। हमारे भीतर और बाहर जो कुछ उत्तम है जो कुछ सुन्दर है जो कुछ पवित्र है उसको प्रतीक रूप में पावती और गंगा व्यक्त करती हैं।

और विदेहराज दुहित सीता ? रामायण और महाभारत दोनों में पतित पावनी सीता देवी का यग गाया गया है। कम लोग जानते हैं कि वह देव भार तीर्थ मदान तक ही सीमित नहीं था। आधुनिक खोजों से बौद्धग्रन्थ के उग उत्थान का समर्थन हुआ है जिसमें बताया गया है कि मेरू के पूर्व में पूर्व विदेह नामक देव था। डॉ० बुद्धप्रकाश ने हाल ही में पूर्व विदेह की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। किष्किंघाकाण्ड में सुग्रीव ने वानरों को सीता की खोज के लिए विभिन्न स्थानों में जाने को कहा था उसमें हिमालय के विभिन्न स्थानों और जातियों के नाम गिनाये हैं। उसमें यामुन पवत का उल्लेख है। लेवी पुराने अभिलेखा से इस नतीजे पर पहुँचे थे कि यामुन पवत वायु का रूप है पुनना नाम अमून था। अमून आधुनिक मुननाग का ही संस्कृत रूप है। यह आजकल

चीनी शासन के अंतर्गत है। यही पूर्व विदेह था जिसे बाद में गांधार कहा जाने लगा। फजलुल्लाह रसीदुद्दीन अबुलखर ने इस कन्धार (पूर्वी गांधार) का हिंदू राज्य के रूप में पाया था और इसका गज सना की बड़ी प्रशंसा की थी। चीनी इतिहासकारों की गवाही से और वहाँ के ध्वसावशेषों से भी इस बात का समर्थन होता है। ईसा मसीह के तीन सौ वर्ष से भी पहले से यह पूर्व विदेह चला आ रहा था। बारहवीं शताब्दी तक इसका इतिहास अटूट रहा है। किमी जमाने में यह हिंदू राज्य आसाम और मिथिला तक फैला हुआ था। रामायण में विमाला नगरी (बाद की बंगाली) बिम्ब राजा विशाल द्वारा स्थापित बताई गई है। अमून या यामुन पर्वत के इद गिद वसा पूर्व विदेह (बाद में पूर्वगांधार) सक्का वर्ष तक मूलभूमि में विच्छिन्न होकर भी चीनी सेना का सफल प्रतिरोध करता रहा। यहाँ से अनन्त बौद्ध लखा और पगाडाओं का उद्धार हुआ है। हमारी गफलत से यह अति प्राचीन विदेह भूमि अपरिचित बन गई है। विदेह हिमालय के समूचे पूर्वी छोर के अधिकारी थे। हमारी संस्कृति की आदर्श प्रतिमा वदेही विदेहराज की कथा थी। चीनी सूत्रों से विदेह का मिथिला नाम भी मिल जाता है। इस प्रकार वदेहा सीमा का संबंध भी हिमालय से जुड़ता है।

हिमालय की किरात जातियों का इतिहास भी महाभारत और रामायण से मिल जाता है। गिद के उपासक किरातों की चर्चा महाभारत में बहुत है। किरातों और चीन को महाभारत में साथ साथ गिनाया गया है। वस्तुतः चीन को किरात ही भारतभूमि से अलग करते थे उनकी मध्यस्थता में ही चीन का सम्पर्क भारतभूमि से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि चीन लोग पूर्व सीमान्त (प्राग्ज्योतिषपुर) से ही भारत पहुँचते थे। उन्हें पूर्व की जातियों में ही गिना जाता था। उनके चीनाशुक्र या रेशम का काम भारतवर्ष में पसंद किया जाता था और भारतीय सम्राटों के अभिषेक के समय चीनजाति के प्रति निधियों द्वारा भेंट किया जाता था। महाभारत में चीन के साथ गांधारों की जो चर्चा आती है वह कदाचित् पूर्व विदेह के निवासी रहे है—यदना किरातों गांधारा खीरना गवरखयरा (१२ ६५ १४)। वनपर्व में हिमालय के कोने कोने में बसनेवाली जातियों की चर्चा है। किरातों को महाभारत में नुकीली चोटी वाले मोने के रंग के कच्चा मांस और मछली खानेवाले और बहेदुर बनाया गया है। सभा पर्व में भी इसका उल्लेख है। इसी प्रकार तुषारा ऋचीका विद्याधरो किन्नरा, खस्त काम्बाजा आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इनके साथ विवाह आदि संबंधों की बड़ी रोचक कहानियाँ इन काव्यों में पाई जाती हैं। भारतीय महाजाति के निर्माण में, व्रत उपासना और धार्मिक चेतना

के निर्माण में इन जातियों की महत्त्वपूर्ण देन है। भारतवर्ष के महामानवसमुद्र को रूप देने में इन जातियों का बहुत महत्त्वपूर्ण योग है। इनका संबंध इस देश का आत्मीय संबंध है। गंधर्वा, किन्नरा, विद्याधरो और अय पावत्य जातियों की चर्चा से हमारे दोनों महाकाव्य प्रखर हैं। इनका कला प्रेम संगीत प्रेम और अपेक्षाकृत स्वच्छंद जीवन भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग बन गए हैं। संगीत को तो गंधर्ववेद ही कह दिया गया है। हिमालय के विभिन्न भागों में बसी हुई जातियों की परम्पराओं के सम्यक् अध्ययन से हमारे इतिहास की अनेक गुंथियों के सुलभन की आशा है। इस समय आवश्यकता है सत्य जिज्ञासु विद्वान् शोधका की। इस ओर अभी तक हमारे विद्वानों का यथोचित ध्यान नहीं गया है। सरकार को भी इस दिशा में अधिक प्रयत्नशील होना है। हिमालय हमारी संस्कृति का ही नहीं हमारे अस्तित्व का भी मेरुस्थल है। इस विषय में हमारे पूज्य जिनने जागरूक थे उतने हम नहीं हैं।

हिमालय की महिमा अपार है। उसे रामायण और महाभारत में अग्रध्व माना गया है। एक बार कलास की जीतने की दुराकाशा रावण के मन में आई थी। उसने यक्षा और गंधर्वों को जीतकर कलास पर जोर आजमाने की हिम्मत की थी। नदी के मना करने पर भी वह नहीं स्वीकारा। नदी ने कहा था— सर्वस्वामेव भूतानामगम्य पवतं कृतं—यह पवतःसबभूत के लिये अगम्य बताया गया है। रावण नहीं माना। उसने हिमालय के सर्वोत्तम शृंग कलास का उठा लेने की कोशिश की। क्षण भर के लिये कलास डगमगा गया। पर क्षण भर के लिये ही। महादेव ने अपने पादागुण्ठ से—पैर के अंगूठ से उस दबाया और फिर त्रिलोक्य कांप उठा। महादेव ने तो उसे गिड़गिड़ाते देख भाग कर दिया पर नदी का शाप उसे खा गया। मदमत्त रावण को वानर भानुष्मा की सेना चाट गई। जिस किसी ने इस गिरिराज को मदमत्त होकर हिलाने का प्रयत्न किया उसी की यही दण्डा हुई है। आज भी मदगवित सेनानियों को कहा जा सकता है कि सावधान चट्टान पर फिर न मारो रावण की गति को न प्राप्त हो।

हिमालय देवभूमि है। कालिदास ने शिव से पावती के प्रति कहलवाया था—पितु प्रदंनं स्यात् देवभूमयः। तुम्हारे पिता (हिमालय) के प्रदेश देवभूमि है। यह केवल पवित्रता के कारण ही नहीं कहा गया है। वस्तुतः हिमालय से भारतवर्ष को अनेक प्रकार के रत्न प्राप्त हो रहे हैं। वैष्णवी रामायण में हिमालय को धातुष्मा की खान कहा गया है। गान्धर्व हिमवानाम धातुनामा करो महान् (वानर ३६ १३) इसी बात का कालिदास ने अनेक रत्न प्रभव कहकर दाहराया है। हमारे पुराने ग्रन्थों में हिमालय के विविध रत्नों का खाना

की चर्चा मिलती है। स्वयं वाल्मीकि रामायण में जादूनद (सोना), चाँदी सीसा, ताम्बा काला लोहा आदि के मिलने की चर्चा है (बाल० ३७)।

इस प्रकार हिमालय हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का उत्स माना जाता रहा है। हिमालय को भारतीय साहित्य और इतिहास से हटा दिया गया तो वह बहुत निष्प्राण हो जाएगा। हिमालय हमारा प्रहरी है, देवभूमि है, रत्नखाना है इतिहास विधाता है, संस्कृति मेरुदण्ड है।

हिमालय [२]

भारतीय साहित्य में हिमालय की बड़ी महिमा है। हिमालय को कविकुल गुरु कालिदास ने देवतात्मा कहा है। भारतीय साहित्य इस देवतात्मा की महिमा से मुखर है। एक बार भारतवर्ष के रक्षात्मक साहित्य से उन उपकरणों को हटा दीजिए जो इस देवतात्मा नगाधिराज के प्रसाद रूप में हम प्राप्त हैं और देखिए कि वह कितना अकिंचन हो जाता है। आपको ऐसा करत समय हिमालय तुहिता पावती को खो देना पड़ेगा जो भारतीय नारी का आदर्श है सतीत्व की मर्यादा हैं, तपस्या का मूर्तिमान विग्रह है और पातिव्रत की विजयध्वजा हैं। आपको गंगा को यमुना को सरयू को ब्रह्मपुत्र को और न जाने कितनी नदियों को भुला देना पड़ेगा जो हमारे जीवन को सरस पवित्र और आनन्दोल्लसित कर रही हैं अथ गंधर्व यक्ष किन्नर सिद्ध, विद्याधर और देवयोनि जात विचित्र रसपोषक तत्त्वों से वंचित रह जायेंगे जो हमारे कविया और क्याकारा को सरस अभिप्रायों को सुलभ किया करत हैं और उचित अवसरों पर विचित्र उपादानों से साहित्य और गल्प को समृद्ध करत रहत हैं। तब आपके हाथ में रसहीन वचिथ्य-वंचित एक ऐसा भरकान्ता रह जाएगा जहाँ मानसरोवर की घवल तरंगों में विलास करने वाले स्वर्ण कमला के कपाय अक्षुर को कुतरने वाले राज-हंस लापता हैं कनककार से कपा काल को कोलाहल मुखर करनेवाले शीत-युगला का अभाव है अक्षिचित नूपुर वाम चरणा के आघात के गीकीन भवरील स्तवका वाले अगोचर पुष्प का चिह्न नहीं है और वह सबड़ा महर्षि रत्न गायक है जो अलङ्करण को बहुमूल्य और प्रकरण का अमूल्य बना दत हैं। हिमालय के प्रसाद से वंचित भारतीय साहित्य में काम्यक बन नहा होगा, कनकपुरी गायक हो जायगी, कलास और

कामाख्या-मीठ निकल जाएंगे, कदलीवन लुप्त हो जायगा सौंदर्य शालीनता और सौकुमार्य के केन्द्र तिरोहित हो जाएंगे। जिन तत्वों ने हमारे साहित्य को अपूर्व रम्यतामयी से मडित किया है और हमारे चित्त को अज्ञाने उल्लास से अकारण कपित आलोडित बनाया है वे हिमालय की कृपा से ही प्राप्त हैं। उनके अभाव में साहित्य नीरस हो जाएगा, गल्प वीरान हो जाएगा, ललित कलाएँ विकलांग बन जाएंगी।

कालिदास ने कहा है कि हिमालय पृथ्वी के मानदंड-समान स्थित है। मानदंड भी क्या? पूर्व और पश्चिम समुद्र—महोदधि और रत्नाकर—का दोनों किनारा से अवगाहन करके विराजमान। हिमालय का यह बहुत ही उत्तम और सटीक परिचय है। भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर वह छाया हुआ है। एक ओर वह अरब समुद्र या रत्नाकर के उत्तरी तट का स्पर्श करता है और दूसरी ओर आर्यामण्डल और त्रिपुरा की अपनी छायाओं में समेटता हुआ पूर्व समुद्र या महोदधि में निमज्जित होता है। इस प्रकार पृथ्वी को वह दो टुकड़ा में बाँट देता है। भारतीय विचारक इस केवल जड़ धरती-वर्णक का विभाजन मात्र नहीं मानते। इस विराट मानदंड ने मनुष्य के नीति और आचार विचार का भी स्पष्ट भेद कर डाला है। हिमालय रूपी मानदंड को यदि आधार मान लिया जाए तो एक त्रिकोण महादेश बनता है, जिसका शीर्ष बिंदु कुमारिका अन्तरोप है। इस त्रिकोण भू-वर्णक को कुमारिका वर्णक कहते हैं। प्रसिद्ध है कि जब हिमालय पर्वत की कन्या पावती गिर की वर रूप में प्राप्त करने के लिये कलाम पर विराट तपस्या कर रही थी, उस समय मुद्गर दक्षिण में अगस्त्य मुनि उनके पास पहुँचे और प्रायना की कि भगवति आपके पवित्र पञ्चमचार से हिमालय की यह देव भूमि पवित्र हो गई है परन्तु मैदान और विध्यशृङ्खला के दक्षिण के प्रदेश इन चरणों के स्पर्श से वंचित रह गए हैं। तपोनिरता कुमारी पावती ने अगस्त्य की प्रायना स्वीकार की और उसी अवस्था में नीचे की भूमि में उतर आई। कुछ दिनों तक इस त्रिकोण के अंतिम छोर पर उन्होंने तप भी किया। उनके पवित्र चरणों से वह सारी त्रिकोण भूमि पवित्र हो गई। यहाँ के स्त्री-पुरुष तप की महिमा के कायल हुए इनमें नीति और आचार धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए त्रिकोण भूमि—आज का भारतवर्ष—कुमारिका वर्णक कहलाया। इसीलिए, सिर्फ इसी पवित्र भूमि में वर्ण-व्यवस्था विद्युत् रूप में प्राप्त होनी है। जहाँ हिमालय-दुहिता कुमारी पावती के पवित्र चरण नहीं गये वहाँ वर्णाश्रम धर्म और उनकी महत्त्वपूर्ण परम्परा भी नहीं चल पाई। उनका चरणों के स्पर्श का यह फल है कि इस कुमारिका वर्णक में नीति

और आचार की मर्यादा को महत्त्व प्राप्त हुआ। जो बर्चित रह गया सो रह ही गये।

स्पष्ट ही इस कथा में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि हिमालय की ही यह देन है कि यह दश सप्ताह के अथ दशों की तुलना में शील और आचार के मामले में विशिष्ट हो गया है यह मनुष्य के जन्म और मरण की—पुनर्जन्म और मरण फल की स्वीकृत महिमा है। जो जसा करता है उसका फल उस भोगना पड़ता है। इस कठिन नियम से देवता भी परित्राण नहीं पा सकते। सचमुच ही हिमालय ने केवल इस देश के मदाना को ही शस्य श्यामल नहीं बनाया है केवल इसकी भौतिक सम्पत्ति को ही रत्नों और महोपधियां से समृद्ध नहीं बनाया है बल्कि इसके अन्तरतर को भी प्रभावित किया है। इस नगाधिराज को पृथ्वी का मानदंड कहना उचित ही हुआ है।

इस अन्तरतर का प्रभावित करने का ही यह परिणाम है कि भारतीय न शिल्प-साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में ऐसा बजोड़ घाट मय दिया है जो सब प्रकार में उसका अपना है। हमारे सहस्राब्द के इतिहास में जो काव्य नाटक क्या आख्यायिका इतिहास पुराण और दर्शन लिखे गये हैं उनका मूल स्वर जन्म और मरण के विशिष्ट सिद्धांत से प्रभावित है। उपरी विभेदों और वचन्या के रहते हुए भी उनमें एक ऐसा सवमाय सूत्र प्राप्त है कि मामूली ढंग से विचार करनेवाला भी आसानी से कह सकता है कि यह वस्तु भारतीय है और यह भारतीय नहीं है। भारतीय काव्य नाटक संगीत नृत्य आदि ललित मनाहर गिल्फ कलाभवासी शिव और उनकी चिरसगिनी हिमालय-दुहित्रा पावना के श्रुण्डी हैं। फिर क्या कहा है जो यहाँ से प्रेरित और चालित न हो?

हिमालय भारतीय साहित्य के उस महान सदश की प्रेरणा भूमि है जो भोग नहीं त्याग देता है जड गरीर विकारों का नहीं अन्तरतर को ऊर्ध्वमुखी गम भावना का प्रतिष्ठित करता है मानसपटल पर उत्थित होनेवाली चंचल तरंग माना का नहीं, गुहादिन गट्टाष्ट तत्व की अविचल भ्रमिनी का गुणगान करता है। इस मन्त्रिमय जीवन दर्शन का किसी समृद्धगामी नगर की गान गीतन में प्रेरणा नहीं मिली है। मिली है तो हिमालय की कन्याओं और गरी गुलाबी में तपानिरल ऋषियाँ में। हिमानय में विराजमान मन्त्रिणी के सीकर निभरा को गान में पत्र आ आश्रम दवर्ग द्रुम मज्जरिया का मुरभि स मित्त सरिताया के तट प्रत्या और निस्तन भाव में विचरण करनेवाले कृष्णगार मृगा में प्रायुधि तपान्न हमारे समस्त रमय मपत्ति के प्रेरणाग्रान हैं। सन्ध्या वरों मन्त्र के। १ भारतीय साहित्य गिद्य नय, गीत नाट्य,

अभिनय आदि को प्रेरित, चालित और आदानित किया है ।

हिमालय केवल पथ्वी का भानदट ही नहीं है, वह हमारी अनादि काल से चली आती हुई सांस्कृतिक परम्परा की उत्स भूमि है, भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, महान है, गौरवास्पद है, उसका आश्रय है । हिमालय-हीन भारतवर्ष उसी प्रकार हो जाएगा जमा मस्तिष्कहीन मनुष्य । हिमालय हमारा अविच्छेद्य अंग है ऐसा अंग जो हमारी समस्त सत्ता का भण्डार संचित रखे है ।

कालिदास ने एक जगह हिमालय की बर्फीली चोटियाँ को आनन्द भक्त महादेव का पुजीभूत अट्टहास कहा है । आनन्द विह्वल महादेव का पुजीभूत अट्टहास आनन्दोल्लसित मगलमय देवता का हर्षोल्लास न हा तो गंगा और यमुना की धारा भी नहीं होगी, भारतवर्ष का अद्वितीय शस्य श्यामल मैदान भी नहीं होगा और इस देश के नरनारियाँ के चित्त में उल्लसित होनेवाली महिमा भी नहीं रहेगी ।

हिमालय है, सदा रहेगा, हमारा रहेगा, क्योंकि वह है इसलिए हम हैं हमारी देवतात्मा सत्कृति है ।

व्योमकेश शास्त्री उर्फ हजारीप्रसाद द्विवेदी

बात काफी पुरानी हो गई है। सम्बद्ध लोग भी प्रायः ससार छोड़ चुके हैं। जो हैं वे बुरा नहीं मानेंगे इसलिए आज बट्ट देने की इच्छा हुई है।

लगभग सत्तादश अठ्ठाईस वर्ष पहले की बात है। मैं 'गान्धिनिकतन स काशी' आया था। उन दिनों महामना भालवीयजी 'सनातन धर्म' नामक पत्र निकालत थे। मेरे सहयोगी मित्र प० (अब डाक्टर) भुवनेश्वर मिश्र माधव उमका सम्पादन करत थे। काशी आया तो माधवजी से मिल जिना कस जा सक्ता था। काफी अरस के बाद हम दोनों मिल थे। दर तब बातें करते रह हसन हँसात रह। चलन चलते माधवजी ने कहा कुछ सनातन धर्म के लिए निष्ठा कीजिए। मैंने स्वीकार कर लिया। 'गान्धिनिकतन' आया तो माधवजी की आना का पालन करना आवश्यक समझा परंतु निर्गुं क्या? सनातन धर्म का योग क्या लिए सक्ता हूँ? धर्म का उपयोग दना मेरा काम नहीं है यह मैं समझ गया था। ज्यानिष-का नगा तब भी नहीं उतरा था। सोचा पचागा की ही चर्चा कर दा। सनातन धर्म से तो इनका काफी सम्बन्ध है। तब निग लिया। क्या आपन था— यह बात नहीं है। पर प्रमग तब से विषय-निर्वाण की चर्चा हो गई। यह पचाग सिद्ध विषयविधानय से निकलता था। सम्पादन से पण्डित मन्महाहा भालवीयजी का भी नाम था। मेरे महान्व भुय्य श्रीर दाना गुरु प० रामचन्द्र माझाजी का भी नाम था। सिंगी जमान से मैं स्वयं उम्मे कुछ काम भी कर चुका था। मुझ उमरी गगना-गङ्गा निग गुरुजी हजारीप्रसाद का नाम था पण न था था। गुरुजी से कई बार उमन का सम्बन्ध कर चका था। गुरुजी भात्रगुरु से सम्बन्ध था सबका समुपन नगा था से समुपन जगें और हंग दन। उनका स्तुतिगत वाक्या ग

निरुत्तर हो जाता । इस बार गुरुजी के मन की, उनका नाम लिए बिना आलोचना कर दी । तब लिखा पूरे उत्साह से, किन्तु भेजने का समय आया तो मन काँप उठा । गुरुजी पढ़ेंगे तो क्या कहेंगे । फिर सोचा गुरुजी तो जानते ही हैं, बहुत होगा डाट देंगे । उनसे क्षमा माँग लेना तो बड़ा ही आमान काम था । मगर सत्य बात कह देनी चाहिए । उन बिना नया जोश था । ममभता था, जो मुझे साथ मालूम होता है वही मारी दुनिया का सत्य है । गुरुजी की बात बहुत समझ में आई । उन्होंने कहा था 'वाद में समुक्ति जइवे अरु थोडा थोडा समझने लगा हूँ । लेख लिख गया था उसे छपना भी चाहिए । मो भेजने का निश्चय किया । लेखक का नाम था—व्योमवेश शास्त्री । पता ठिकाना कुछ नही । यह माधवजी को भी चकमा देने का प्रयास था । तब भेज दिया । छप गया । मैं प्रमत्त हुआ कि किसी का पता नहीं लगा, उधर विधाना कुटिल हँसी हम रह रहे थे—छिपते हो ? छिपना क्या इतना आमान है ।'

वाद की घटना बड़ी मजेदार है । एक दिन शांतिनिकेतन का डाकिया एक बड़ा-सा बण्डल (रजिस्टर्ड पैसल) लिए व्यामवेश शास्त्री का पता पूछते मेरे पास पहुँचा । मैंने कहा, 'यही रहते हैं दे जाओ । पैसल ले लिया । व्यामवेश शास्त्री तो प्रथम बार सनातन धर्म में अवतरित हुए थे उनके नाम यह भारी पोया कहा से आ गया ? मैंने 'उमुक्तपूवक' बण्डल जाला । एक बड़ा पाया था—इन्दौर की पचाग समिति की रिपोर्ट जो बहुत ही उपयोगी पुस्तक थी । आज भी मैं उस पुस्तक को उपयोग में लाता हूँ । कुछ और छोटी छोटी पुस्तिकाएँ थी और साथ में प्रसिद्ध पचाग निर्माता पं० दीनानाथ शास्त्री चुलेट का पत्र था । वे इन्दौर के महाराजा के ज्योतिषी थे और वही से पचाग प्रकाशित करते थे । एक बार मैं उनसे मिल भी चुका था । उन्होंने व्योमवेश शास्त्री को सम्बोधित करके लिखा था कि 'सनातन धर्म में प्रकाशित लेख से वे बहुत प्रभावित हुए हैं । उसमें जो मन प्रकाशित हुआ है वह लगभग ज्योतिष का त्याग उनका भी मत है । इन्दौर में एक अखिल भारतीय ज्योतिष सम्मेलन का आयोजन किया गया है । पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने सभापति पद स्वीकार कर लिया है । पचाग समिति ने देश के सभी पचाग निमाताओं का निमन्त्रित किया है । उद्देश्य है सारे भारत में एक ही पद्धति का पचाग निकालन वाला मार्ग खोजना । ग्यारह विद्वानों की एक निष्ठापक समिति बनाई गई है उसमें बंगाल के प्रतिनिधि व्योमवेश शास्त्री को रखा गया है । पं० दीनानाथ शास्त्री ने बड़े आग्रह से लिखा था कि आप अवश्य पधारें ।

मैं हैरान । मालवीयजी महाराज सभापति होंगे पचाग निर्माताओं में

अपने अपने पक्ष की स्थापना के लिए निमन्त्रित विद्वानों में गुरुजी भी रहेंगे और यह अप्रत्याश 'व्योमवेश शास्त्री' निर्णायक समिति में फसला सुनाने के लिए विराजमान रहेगा। ऐसी अनहोनी भी कभी हुई है। जरूर माधवजी ने भण्डाफोड़ किया है। मगर बाद में माधवजी से मालूम हुआ कि वे भी नहीं पहचान सके थे कि 'व्योमवेश शास्त्री' और 'हजारीप्रसाद द्विवेदी' एक ही हैं। बुकपोस्ट पर 'गान्तिनिवेदन' के डाकघर का ठप्पा देखकर उन्होंने दीनानाथ शास्त्री को बताया था कि यह कोई 'गान्तिनिवेदन' का महापण्डित है। मैं सोच में पड़ गया। मालवीयजी भी जान जायेंगे गुरुजी भी जान जायेंगे कि उही के पत्र में उही का लड़का उही की आलोचना कर रहा है। हाय धरती फटती क्यों नहीं। मुझे बड़ी ग्लानि हुई। प० दीनानाथ शास्त्रीजी की सच्ची बात लिख दी। 'मैं बंगाल का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। मैं 'व्योमवेश शास्त्री' नहीं हूँ ठूठ हजारीप्रसाद हूँ। मुझे वहाँ न बुलाइए। निर्णायक कोई बद्ध विद्वान है तो गोभा देगा। मैं कैसे निर्णायक बन सकता हूँ। प० दीनानाथ शास्त्री ने मेरा नाम जाना तो और भी प्रसन्न हुए। बोले 'तुम्हें तो मैं नहीं छोड़ूंगा। आना ही पड़ेगा। सत्य कहने से डरते हो? कैसे नौजवान हो?' हाय राम! नौजवान होना दोष ही है।

पूरा दिन उधेड़-बुन में बीता। यह कैसे अस्वीकार करें कि सत्य कहने में नौजवान को नहीं डरना चाहिए। उन दिनों सारे देश में उथल-पुथल थी। नौजवान की स्तुति में उन दिनों जितना लिखा गया उतना कदाचित् कभी नहीं लिखा गया था। व सिर पर कपड़ों बांधकर चलते हैं वे हंसते हँसते फाँसी के तरतों पर झूँट जाते हैं उनके रक्त से धरती पवित्र होती है और जाने क्या-क्या। सो मैंने शास्त्रीजी को लिखा—अवश्य आऊँगा। सत्य कहने में क्या डर है। शास्त्रीजी प्रसन्न हुए। इधर नाडी सूखने की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी। निर्णायक समिति में व्योमवेश शास्त्री के स्थान पर हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम छपा। मान का भूसा चित्त चंचल हुआ। चलो देखा जायगा।

जैसे-जैसे सम्मेलन के दिन निकट आते गए धुक-धुकी बढ़ती गई। गुरुजी क्या कहेंगे मालवीयजी क्या मोचेंगे?

इसरी जाने क दिन स दो गि पृथ मरी देवनी बट गयी। नौ बज गिन को मैं बहुत व्याकुल हुआ। एकाएक बात सूझ गई। क्या न गुरुदेव स सलाह ली जाय। तुरत चल पड़ा। एकदम उनके द्वार पर ही पहुँचकर रूका। समीप की बात कि व उस समय उत्तरायण के बरामते में अकेले चुपचाप बैठे थे।

मुझे देखते ही स्नेहसिक्त स्वर में बोले 'एशो अर्थान् आओ। मैं इतनी जल्दी उनसे मिलने की आशा लेकर नहीं आया था। प्रणाम करके एक ओर बठ गया। गुरुदेव ने मेरी ओर देखा अत्यंत वत्सल भाव में। फिर बोले, "कुछ चिन्तित जान पड़ते हो। क्या बात है?" अब साचने विचारने का अवसर ही नहीं रहा। सारी बात ज्यों-की-त्यों सुना दी। अपनी दुविधा और सकाच की बात वहीं और अपनी पुस्तकी बगला भाषा में उपसंहार करते हुए कहा, 'मूलता से धम-मकट पदा कर लिया है अब आपकी सलाह मांगने आया हूँ। जाऊँ या न जाऊँ। जाने को कह चुका हूँ। गुरुदेव ने क्षण भर मेरी आँखा में चुपचाप देखा। भगवान् जाने उन्होंने क्या पढ़ा उनमें। फिर सहज भाव से कहा न आओ। तुम में सत्य के प्रति जितनी आस्था है उससे वही अधिक भय और सकाच है। भय और सकाच तुम्हें सत्य का पथ नहीं लेने देंगे।' मैं सिहर उठा। हाथ जोड़कर चुपचाप उनकी आर ताकता रहा। वे कुछ देर मौन रहे फिर बोले, 'सत्य बड़ा महसूल चाहता है। तुमने अपना नाम छिपाया वही से तुम गलत रास्त पर चल पड़े। देखो जब किसी की प्रतिकूल आलोचना करनी हो तो नाम मत छिपाया करो। नाम छिपाना पहली कमजोरी है। फिर वह और कमजोरियाँ को खींचती जाती है। नाम छिपाना भी सत्य को छिपाना ही है।

मुझे लगा कि गुरुदेव ने मेरे अन्तर तक वेध दिया है। मैंने जल्दी-जल्दी उठने का उपक्रम किया और उनकी ओर ताकते बिना ही कहा तो फिर यही आना है? उत्तर मिला, हाँ। मैं उठने लगा तो जरा जोर में बोले, 'बठो। बठना पड़ा। फिर उन्होंने पचागो के बारे में मैंने क्या लिखा है यह पूछा और दर तक उस सम्बन्ध में बात करते रहे। मुझे लगा कि वे अब मेरे घाव पर अमृत लेपने का प्रयास कर रहे हैं। बड़े ही कोमल हृदय के थे। बोले 'मुझे प्रसन्नता है कि तुम ठीक ढंग से सोच रहे हो। पर डरा न करो। जो ठीक समझो खुल के कहो। माबूम हो कि तुमने गलती की तो तुरन्त सुधार लो। सत्य अपना पूरा दाम चाहता है।'

गुरुदेव के यहाँ से लौटकर मैंने तार दे दिया, 'नहो आ सकूँगा। क्षमा करें।'।

बात खत्म हो गई। मन का एक बोझ उतरा। दूसरा अभी बाकी था। गुरुजी तो जान ही गये होंगे क्या सोचते होंगे। सोचा क्षमा माँग लूँ। मज मून बनाया, काटा फिर लिखा। पत्र ठीक बन नहीं पा रहा था। इतन में गुरुजी का पत्र आ गया। लिखा था 'तू इंदौर क्या नहीं गया? मैं तो उस

नि प्रपत्नी विद्या मयन माता। जिन नि तुम्हे निर्गविन की गद्दी पर बग
देसता।

माता म माँसू मा गय। दाने महात् गुरु का निष्य हूँ मैं। दोहा-जीहा
फिर गुरुय मे पास पहुँचा। उन्हें पत्र लिखाया। उन्हें भी बड़ा मान-प्रभुभय
हुआ। बोले तुम्हारे गुरु सच्चे गुरु हैं। उनकी महता देगवर मैं मुग्न हूँ।
मुझे लगा कि मैं किसी जादू में बहुत-बहुत बड़ा हो गया हूँ। आज मेरे दोना
सच्चे गुरु इहलोक त्याग चुके हैं। सोचता हूँ ऐस गुरु की निष्यता प्राप्त
करनयान मेरे जसे भाग्यवान कितन हैं।"

भारत की समन्वय साधना धर्म और दर्शन के क्षेत्र में

भारतवर्ष के धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्रों की साधना का इतिहास बहुत प्राचीन है। प्रागतिहासिक काल से लेकर आज तक न जाने कितनी साधनाएँ उद्भूत हुई हैं कितने दार्शनिक मतों का उदय हुआ है और कितने सामाजिक मग ठन उदभूत हुए हैं। सब हमें का के लिए प्रमुख स्थान अधिकार नहीं कर सके पर सबने विशाल भारत धर्म के निर्माण में कुछ न-कुछ योगदान दिया है। वैदिक, बौद्ध, जैन, कापालिक, पाशुपत, शक्ति, शैव, वैष्णव आदि अनेक धार्मिक साधनाएँ किसी समय देश भर में, या देश के किसी विशेष भाग में अत्यन्त प्रचलित थीं, पर धीरे-धीरे उनमें उतार भी आया और अनेक मतों को आश्रय करके नये सिरे से उठने का प्रयास भी दिखाई दिया। कई साधनाएँ नाम और रूप बनकर अब तक जीती चली आ रही हैं।

भारतवर्ष का इतिहास अनेक देशों से कुछ विचित्र रहा है। सम्यक्ता के उष काल से लेकर आधुनिक काल के आरम्भ तक हमारे देश में विभिन्न मानव समूहों की घात बराबर चली आ रही है। इसमें सम्यक्, अद्वैतसम्यक् और ब्रह्मचर्य श्रेणी के मनुष्य रहे हैं। भारतीय मनीषी गुरु से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासों और मना को जानने का अवसर पाते रहे हैं। इसीलिए यहाँ धर्म विज्ञान (थियालाजी) और तत्त्व जिज्ञासा (फिलासफी) कभी भी परस्पर विरोधी शास्त्र नहीं बन पायें। कुछ पश्चिमी आलोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि भारतवर्ष में विशुद्ध तत्त्व जिज्ञासा या फिलासफी नामक शास्त्र बना ही नहीं। दर्शन शास्त्र का अर्थ ही देखना है। दर्शन ऐसे आचार्यों का दृष्टि सत्य हो सकता है जो सब प्रकार से आप्त हैं—भय, लोभ या काम से कभी विचलित

न होने वाला प्राप्त होता है। उसकी भाग्यपूर्ण दृष्टि में जो देना जाना है उसी को दान कहते हैं। पितासही का मूल में गन्त होता है। ज्ञान के मूल में शुद्ध और सम्यक् दृष्टि। भारतीय मनीषिया न दोना का उचित सामञ्जस्य किया है। यह सामञ्जस्य या समति खाना भारतीय मनीषा की बड़ी भारी देन है। हर धर्म साधना में तीन पक्ष होते हैं—उसमें पीछे काम करनेवाला तत्त्व-मीमाणा (दान) उसको सरस रूप में उपस्थित करनेवाला यात्रमय (बाह्य) और उसे जीवन के व्यवहार के क्षेत्र में लक्षण के लिए तत्त्वानुयायी कमवाण्ड (नियम)। ये तीनों जान इच्छा और नियम के प्रतिपादक होते हैं। धर्म-साधना में इन तीनों का अन्तर्भाव होता है। समस्त भारतीय धर्म-साधना में इन तीनों पक्षों को खोजा जा सकता है।

अभी कहा गया है कि दान का अर्थ देना है। इनका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दान' नामक शास्त्र कुछ सिद्ध महात्माओं के दाने हुए (साक्षात्कृत) सत्यो का प्रतिपादन करते हैं। यह देना तब वास्तविक होगा जब केवल इन्द्रिय द्वारा या प्राण द्वारा या मन द्वारा या यहाँ तक कि बुद्धि द्वारा भी दिखाई देने वाले स्थूल विषयों को पीछे छोड़कर इनसे परे इनसे सूक्ष्म चिन्तन द्वारा साक्षात्कृत हो। इसी को स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ अनुभव करता है या देखता है वह सत्य है। सारे भारतीय दशन मानते हैं कि शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है। इन्द्रिय बाह्य कारण है वे बाहरी सत्ता को अन्तर में से उतारने के साधन हैं। आन्तरिक इन्द्रिय मन बुद्धि अन्तःकरण है इनसे हम बाहरी सत्ता से गृहीत इन्द्रियाणों का जोड़ते हैं। गलत से सही को अलग करते हैं और बाह्यकरणों को यथा दृष्ट दिशा में नियुक्त करते हैं। परन्तु बाह्यकरण हा या अन्तःकरण दोनों ही साधन हैं। करण का अर्थ ही साधन है। इनसे काम करनेवाला मालिक कोई और है वह चेतन्य है। इसीलिए ठीक-ठीक जानकारी के लिए बाह्यकरण और अन्तःकरण दोनों ही की शुद्धि आवश्यक है। जब तक मनुष्य के भीतर और बाहर दोनों ही शुद्ध निमल और पवित्र नहीं होते तब तक वह गलत बात को सही समझने की गलती कर सकता है। यह जो बाह्य और अन्तःकरण की शुद्धि है वह सम्पूर्ण भारतीय धर्म साधनाओं में आवश्यक गत मानी गई है। इस विचार ने विरुद्ध दिशागामी विचारों को एक सूत्र में बाँधने का काम किया है। इसीलिए धर्म को इस देश में आचार से इतना घनिष्ठ भाव से जोड़ दिया गया है। मनुस्मृति के आरम्भ में ही धर्म की परिभाषा में कहा गया है कि धर्म वह है जो जानकार मन्त्रे, रागद्वेषहीन व्यक्तियों द्वारा सेवित या

आचरित होता है— विद्वद्भिः सेवितः सदभिः नित्यमद्वेष्यानिभिः । जसन्तसे रह-
कर जसन्तसा साचकर बड़े मत्प को अनुभव नहीं किया जा सकता । चंचल
मन बबल गलग ढग की बात सोचने में लगा रहता है । इस चंचलता को दूर
करने के लिए इस दंग के मनीषिया न जो उपायादि बनाए हैं, उनकी समष्टि
का नाम याग है । भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में बताया है कि इस चंचल चित्त
को अभ्यास और वराग्य से ही बश में किया जा सकता है । समस्त भारतीय
धर्म-साधनाएँ और दर्शन अभ्यास और वराग्य पर बल देते हैं । योग द्वारा
स्थिरीकृत चित्त सर्वम आवश्यक माना गया है । ऊपर ऊपर में अभ्यास और
वराग्य को स्थापित करनेवाली पद्धतियों में बबिध्य है, पर यह सभी मानते हैं
कि इनका होना आवश्यक है । इस विश्वास ने ऊपर से विरुद्ध दिखनेवाले मता
में भी पारम्परिक श्रद्धा भाव उत्पन्न किया है और समन्वय का माग प्रशस्त
किया है ।

पुरातन से अनेकों जातियाँ कबीलों नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोशों के
दल-बं दल इस दंग में आते रहे हैं । कुछ देर के लिए उन्होंने देग के वातावरण
का विश्लेषण बनाया है । पर अन्त तक वे पराए नहीं रह सके हैं । उनके देवता
भी तत्तीस करोड़ सिंहासनो में से किसी एक को देखल करके बठ जाते रह और
पुरातन देवताओं के समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे हैं और कभी-कभी तो
अधिक श्रद्धा के भाँ अधिकारी सिद्ध हुए हैं । भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी
विशेषता रही है कि ममागत कबीला नस्ला और जातियाँ की भीतरी समाज
अवस्था और धर्ममत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया और फिर भी
उन्हें सम्पूर्ण रूप से भारतीय बना लिया गया । भारतीय संस्कृति इतने अतिथियों
को जो अपना सकी है उसका एक कारण यह था कि उसकी धर्म-साधना गुरु
से ही वैयक्तिक रही है । प्रत्येक व्यक्ति अपने किए का जिम्मेदार आप है ।
श्रेष्ठता की निगानी किसी धर्ममन को मानना या देव विशेष की पूजा करना
नहीं है बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है । यदि कोई अपने कुल धर्म के
पालन में दण्ड है चरित्र में गुद है दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल
नहीं करता, बल्कि स्वधर्म में मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है ईमानदार
है मयवादी है तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण
गव हो या वैष्णव हो । कुलीनता पूर्व-जन्म के कर्मों का फल है चारित्र्य
जन्म-जन्म के कर्मों का प्रकाशक है । देवता किसी एक जाति की सम्पत्ति नहीं
होना, वह सबकी पूजा पाने का अधिकारी है । पर यदि स्वयं देवता ही चाहता
हो कि यह किसी विशेष जाति का ही पूजा ग्रहण करेगा तो भारतीय संस्कृति

को इगम भी एतराज नहीं। राहु देवता मगर दामा को लिए दान से ही प्रसन्न होत हैं तो यही सही। ब्राह्मण भी डोम का दान दकर ही उन्हें प्रसन्न करेगा। इन विश्वासा न एक विचित्र प्रकार की सहनशीलता मोक्ष और सबबादी दृष्टि उत्पन्न की है। इसी विश्वास ने सब जगह से और सब जातिवा से उत्तम आचार विचार को सग्रह करने और उन्हें यथावसर, यथास्थान गजाने की समय बुद्धि को प्रतिष्ठित किया है।

भारतीय इतिहास में इसलाम का आगमन एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना थी। गुरु-गुरु में ऐसा लगा कि उसकी मूल भावनाओं से स्थानीय भावनाओं का मेल नहीं बैठेगा। पर धीरे धीरे भारतीय मनोपा न उसके साथ भी एक समझौता किया। दोनों धर्मों के मूल तत्त्वों को मोज निकाता गया और मध्य काल के सत्ता ने दोनों के भीतर मनु निर्माण करनेवाले साहित्य की रचना की। उत्सव, मन पोगाक गहा वातचीत रीति रस्म के भीतर से दोनों एक-दूसरे के निकट आने लगे। दोनों के भीतर मिलानेवाले आध्यात्मिक तत्त्वों का दूढ़ निकाला गया। अंग्रेजों के आने से पूर्व भारतीय मनोपा बहुत कुछ एकरव की खोज कर चुकी थी पर बाद में उसे भटका लगा। दौघ ही भारतीय मनोपी, जिनमें गांधीजी प्रमुख थे नए मिलन भाग को प्रगस्त करने में समर्थ हुए। बार-बार भटके खाने के बाद भी यह प्रक्रिया अपना काम बिय जा रही है।

भारतीय मनोपियों को समय साधना का मुकाबला इतिहास की किसी सस्कृति से शायद ही किया जा सके। दान और धर्म के क्षय में उसने मिनन भूमि प्रशस्न करने में अदभुत कुशलता का परिचय दिया है।

प्राचीन ज्योतिष

आज हम यह विचार करना है कि भारतीय सस्कृति में प्राचीन ज्योतिष का क्या स्थान था। हमारी सभ्यता के प्रधान उत्स वेद हैं। यद्यपि आज के भारत वर्ष को बनाने में ऐसी अनेक सांस्कृतिक धाराएँ काम करती रही हैं जिनका बदो से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता तथापि मुख्य धारा वदिक ही रही है। वदिक सभ्यता के केंद्र में यज्ञ-याग हैं। ये यज्ञ-याग ही इस देश में ज्योतिष के अध्ययन के मूल कारण हैं। विशेष विशेष यज्ञों के लिए समय का निश्चय करना बहुत आवश्यक था। गणित ज्योतिष के सबसे प्राचीन ग्रन्थ लगघमुनि प्रणीत वेदांग ज्योतिष के अन्त में लिखा है कि वेद यज्ञ के लिए अभिप्रवृत्त हुए हैं और यज्ञों का विधान समग्र के अनुसार हुआ है। इसीलिए काल का विधान करने वाले इस ज्योतिष शास्त्र का जो ज्ञानता है वस्तुतः वही यज्ञों को जानता है। इस प्रकार यज्ञ का काल निगम करने के लिए गणित ज्योतिष का प्रतिष्ठा हुई। इस ६ वेदांगों में स्थान मिला। रूपक की भाषा में शास्त्रकारों ने इसे वेद पुरुष की आँख कहा है। मध्य युग के अंतिम श्रेष्ठ ज्योतिषी भास्कराचार्य ने कहा था कि चूंकि यह शास्त्र वेद की आँख है इस-लिए यह सब अंगों में श्रेष्ठ है वेदचक्र, कलंद स्मृतज्योतिष मुख्यता चांग मध्यज्योतिष तनोच्यते। यज्ञ की वेदिका के निर्माण के लिए ही गुरुत्व सूत्रों की विद्या ज्यामिनिशास्त्र का उदय हुआ जो धीरे धीरे सत्सार भर की सभ्यता को गति देने में कारण बनी। एक बार आधुनिक सभ्यता के मूल से रक्षागणित को हटाकर देखिए कि हमारी आधुनिक सभ्यता की क्या गति होगी। बड़े-बड़े शहर भहरा जाएँगे। ज्यामिनि के अभाव में एक भी मकान नहीं बन सकेगा, एक भी सड़क ठीक ठीक नहीं बनाई जा सकेगी। गणित में भारतीयों की दन विद्वत्

विनिर्मित है। यह जो घना भी आगुनागर पड़ती है यह भारतीय सम्प्रदाय का ही नेत्र जाती जाती है। गावर्धन गणित कि यति यह गणित गणित गणित का दण्ड बन पड़ा जाता तो गणित साम्प्रदाय की क्या गति होती। मामूली जाह्नव घना गुणा भाग भी टीका बन जाता। इस दृष्टि में गणित तो भारतीय ज्योतिष गणित की गणना गणित-गणित का मूल मूल है। यना का गुणागमन पत्र की जाह्नव की दृष्टि में ही उग गणित गणित और प्रवृत्ति निरीक्षण विद्या का मूलपत्र हुआ जो आज परिणत व्यवस्था का घनेत साम्प्रदाय का बीज है। निम्न-ग्रह मनुष्य की सम्प्रदाय की प्रवृत्ति का मूल मूल हमारे देश का मनीषिया का यह बड़े बड़े आविष्कार है।

प्राचीन ज्योतिष की सुप्रसिद्ध ज्यामिती यराहमिहिर ने तीन स्तरों में विभाजित किया था—तत्र संहिता और होरा। तत्र में पातीयगणित (एरिथ मेटिक्) बीजगणित (सलजत्रा) ग्रहगणित (मधमटिगल एस्ट्रानामी) गोल (स्फेरिकल एस्ट्रानामी) और करण (प्रेक्टिकल एस्ट्रानामी) सम्मिलित हैं। संहिता में नाना प्रकार की प्राकृत घटनाओं के कारणों की चर्चा होती है और उन क्षणों को बताया जाता है जिन्हें देखकर इन प्राकृतिक व्यापारों का अन्तजा लग सके। और द्वारागणित में जन्म के समय के ग्रह-स्थिति की स्थिति से भविष्य पत्र बताया जाता है। अग्नेजी में जिस एस्ट्रालाजी कहते हैं वह होरा शास्त्र ही है। मगर भारतीय फलित शास्त्र में होरा के अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं।

ज्योतिष का भारतीय जीवन से कितना गहरा सम्बन्ध है इस बात को ठीक-ठीक अनुभव करने के लिए एक बार उन कामों की ओर दृष्टि डालिए जो ज्योतिषी की सलाह पर किये जाते हैं। कहो जाना हो, कोई दवा खानी हो कोई कपड़ा पहनना हो कोई खरीद बिक्री की बात हो ज्योतिषी की सलाह आवश्यक होगी। जन्म हो, मरण हो, विवाह हो द्वारागमन हो ज्योतिष उसमें जरूर दखल देगा। व्रत हो, उपवास हो उत्सव हो त्यौहार हा ज्योतिष के बिना हो नहीं सकता। ज्योतिषी के पास भारतीय गृहस्थ को हर छोटे बड़े काम के लिए जाना ही पड़ता है। प्राचीन काल में ज्योतिष का क्षेत्र बहुत व्यापक था। बादल क्या बनते हैं सुबह शाम आकाश क्यों लाल हो जाता है भूकम्प का क्या कारण है आधी और तूफान कैसे होते हैं ये सारी बातें ज्योतिष की विवेचना का विषय मानी जाती थी। पुरुष और स्त्री के कौन से चिह्न सौभाग्य की निशानी है कौन-से दुर्भाग्य की हाथ और पर की कौन सी रेखा पुरुष को राजा या योगी बना देती है और स्त्री को रानी या विधवा बना देती

है इसका विचार यही शास्त्र करता था। कीए के काँव-काँव से क्या सूचित होता है, थूगाली के रोदन का क्या फल होता है, उल्लू के कहीं बठन पर क्या हान की सम्भावना है छोटे की भवारण हूँपा से किस भ्रमगल की सूचना मिलती है, छाग और कुक्कुट के कौन-सा लक्षण अच्छे या बुरे होते हैं ये और इस प्रकार के अनेक सक्का प्रश्ना का उत्तर ज्योतिष देता था। कब और कहीं कुआँ बनाना चाहिए, भवान कहीं और कसा बनना चाहिए, तालाब का खुदना कब शुभ है कब अशुभ, खिडकी और दरवाजे कसे और कहीं लगन चाहिए, घर की खाट में कौन सा काठ शुभ होगा कौन-सा अशुभ—ऐसी बीसिया बातों का उत्तर ज्योतिष देता था। कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार के व्यापक क्षेत्रों पर सम्पूर्ण अधिकार रखनेवाला शास्त्र कितना प्रभावशाली होगा और राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में कितना महत्त्वपूर्ण म्यान का अधिकारी होगा। आजकल के अनेक शास्त्र अपरिणत अवस्था में इस शास्त्र के अन्तर्गत पड़ते थे।

बहुत प्राचीनकाल में इस देश में ज्योतिषी का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। धर्मसूत्रा और 'अथशास्त्र' के युग में भी वह केवल साधारण गृहस्थ का ही पथप्रदर्शक नहीं होता था राजाओं के सधिविग्रह का परामर्शदाता भी होता था। अथशास्त्र की व्यवस्था है कि राजा को ज्योतिषी अवश्य रखना चाहिए। ज्योतिषी का पुराना नाम दवन था। बराहमिहिर ने बृहत्संहिता में दैवत का जो लक्षण दिया है उससे सहज ही समझा जा सकता है कि उस क्या-क्या काम करना पड़ता था। उस हर प्रकार गणितशास्त्र से परिचित होना पड़ता था। देह के किसी अंग के पड़कने का क्या अर्थ है किस स्वप्न से क्या फल प्राप्त होने की सम्भावना है, विविध शुभ कर्मों के आरम्भ या अन्त करने का ठीक समय कब आता है इत्यादि बातों की उसे जानकारी होनी ही चाहिए थी। ज्योतिषी आक्रमण करने का शुभ मुहूर्त तो बताता ही था वह यह भी बता देता था कि किस पुरुष के सेनापतित्व में जीत हानि की आशा है। उस घोड़ा हाथी आदि के इंगितों से भावी गुमाशुभ फल का निर्देश कर देना पड़ता था। शास्त्र में बताया गया है कि यदि घोड़ा बार-बार ताड़न करने पर भी आगे न बढ़े और बार-बार मूत्र पुरीष का त्याग करता रहे तो लक्षण बुरा है। हाथी अगर पृथ्वी पर सूँड रख दे आख बंद कर ले और कान खड़ा कर ले तो मामला सगीन होता है। ऐसे लक्षण देखकर ज्योतिषी का भावी पराजय की आशंका बना देनी पड़ती थी। पर सौभाग्यवश यदि हाथी सूँड उठाकर वग से चल पड़े तो फिर जीत निश्चित मानी जाती थी। यह नहीं समझना चाहिए कि ये बातें पेशेवर ज्योतिषियों तक ही सीमित थीं। गृहस्थों का ऐसा अनेक

लक्षणों का ज्ञान रहता था। पुराने ग्रंथों में ऐसी बहुत भी कथाएँ मिलती हैं जिनसे ज्ञान पड़ता है कि साधारण गृहस्थ इन बातों की अच्छी जानकारी रखते थे। कभी कभी "न वि वासा न एतिहासिक" महत्व की घटनाओं के घटने में सहायता दी है। आरम्भ में यह बात बहुत साधारण रूप में थी परन्तु धीरे धीरे इन्होंने बड़ ही महत्वपूर्ण शास्त्रों का रूप ग्रहण किया। हाथिया व पहचान की विद्या घाडा के पहचान की विद्या विविध पशु पक्षियों व लक्षणा की विद्या इन्हीं बातों का विकास है। मणिया और रत्नों की परीक्षा न भी महत्वपूर्ण कला का रूप ग्रहण किया है और सहिता स्वयं के अनगुन ज्ञानवान् वास्तुशास्त्र और प्रतिमा लक्षण न तो भारतीय धर्म और सभ्यता में जो प्राण संचार किया है वह किसी प्रकार भुलाया नहीं जा सकता। परवर्ती काल के विद्यान मंदिर और मनोहर मूर्तियाँ का निर्माण विद्या मूलतः सहिताओं में ही अंतर्भुक्त थी। बहुत पुराने जमाने में ही राजकुमारों को जो कलाएँ सिखाई जाती थी उनमें से बहुत सी ऐसी हैं जिनका परिचय आज केवल ज्योतिषिक सहिताओं से ही मिल सकता है। ललित विस्तर में लिखा है कि कुमार सिद्धाथ को स्वप्नाध्याय स्त्रीलक्षण पुरुषलक्षण अश्वलक्षण दृष्टिलक्षण गालक्षण, अजलक्षण मिथित लक्षण आदि कलाएँ सिखाई गई थी। वराहमिहिर भी वह सहिता से इन विषयों की थोड़ी सी जानकारी हो जाती है। इन सब विद्याओं पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये थे पर दुर्भाग्यवश अब सब मिलन नहीं।

लेकिन ज्योतिषी को केवल इतनी ही बातों तक आकर रक नहीं जाना पड़ता था। उस मूय आदि ग्रहा और सप्तर्षि मंडल आदि नक्षत्रों का संचार का पता रखना पड़ता था। कौन सा ग्रह कसा रंग पकड़ रहा है कब उदय हो रहा है कब अस्त जा रहा है चंद्रमा की नोक किधर उठी हुई है मंगल का रंग क्यों फीका पड़ गया है चंद्रमा के चारा और परिवेग कितना बड़ा है ग्रहण कब हो रहा है इन सबकी खबर उस रखनी पड़ती थी। उल्का वायु शिगाह भूकम्प संध्या की सातिमा, इन्द्रधनुष गंधर्व नगर सब पर उसकी अनुसंधानिनी दृष्टि का पड़ना आवश्यक था। इनने निपुण भाव से आकाश का पथवेग का बनवाने ज्योतिषियों ने यदि समार को ज्योतिष और गणित की महत्वपूर्ण बातों का सधान बताया तो इसमें आश्चर्य का कोई बात नहीं है। आज से कई हजार वर्ष पहले इन ज्योतिषियों का वर्णमान का और ग्रहगणित का जमा जान था वह आज के वैज्ञानिक युग में आश्चर्य की बात समझा जाता है। दुनिया इन बातों में उससे बहुत अधिक आगे नहीं गयी है। यह दूसरी बात है कि गणित ज्योतिष का क्षेत्र आज बहुत विस्तीर्ण हो गया है।

ज्ञान की जानकारी व आगत प्रज्ञान में सबसे अधिक संस्कारयुक्त ये ज्योतिषी ही रहे हैं। ज्ञान का इस क्षेत्र में जाति, धर्म और देश के ऊपर समझा गया है। हमारे देश के ज्योतिषियों व असुरा (असीरियन) और यवना (ग्रीक) से ज्ञान लिया भी है और दिया भी है। मध्यकाल के अरबों में जब विद्या की भूख बहुत बली थी तो हमारे देश के अनेक ज्योतिष ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ। बराहमिहिर ने कहा है कि यद्यपि यवन लोग म्लेच्छ है तथापि इस विद्या की जानकारी के कारण ऋषिगत पूज्य है। सो ज्योतिष के आचार्यों में अदभुत उत्पत्ति रही है। हमारी संस्कृति में ज्ञान की पवित्रता के प्रति जो निष्ठा है उसका सर्वोत्तम निदर्शन यह ज्योतिष विद्या है। मैंने एक बार भारतीय संस्कृति की आलोचना ज्योतिष शास्त्रीय परम्परा के अनुसार करत हुए कहा था कि इस संस्कृति के साथ असुरा यवना आका और आर्यों की दीर्घ साधना से उपलब्ध ज्ञान की स्मृति जुड़ी हुई है। मैं उस दिन बड़े उल्लास से अनुभव किया था कि इस शास्त्र के भीतर से हम मनुष्य की सामान्य संस्कृति की ही विजयगाथा सुनते हैं। यह शास्त्र मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के मिलन का अदभुत निष्पन्न है। जो लोग आज दुविधा में पड़े हुए हैं उन्हें यह बात आश्चर्य करती है कि यह जो कुछ विषय भ्रष्टाचार का अभिनय चल रहा है यह जो दंत दंष्ट्र अघरोष्ठों के द्वारा सघष का भयकर लक्षण स्पष्ट हो रहा है वह सब क्षणिक है। कठोर सधर्मों के भीतर भी मानव मानव की मिलन क्षमि तयार हो रही है। ज्योतिष शास्त्र यह आशाकर संदेश ही देता है। हमारी संस्कृति को उसने विश्व संस्कृति बनने में अदभुत सह्यता पहुँचाई है। उसने मनुष्य को आग बटने का साधन प्रस्तुत किया है मिलन का क्षेत्र तयार किया है और मनुष्य की उच्चतर वस्तियों के प्रति हमारी आस्था को दृढ़ किया है।

भारतीय विचारधारा के विकास में ज्योतिषशास्त्र के विविध अंगों की देन बहुत अधिक है। अनेक भारतीय कलाओं के प्रवर्धन के मूल में मागल्य भावना रही है और इस भावना को ज्योतिष ने निरन्तर पुष्ट किया है। नाट्य शास्त्र में नाट्य और नर्तक को भी मागल्य समझकर प्रवृत्त बताया गया है। वस्तुतः जमा कि सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने कहा है पुराने ज्योतिषी ज्योतिष शास्त्र को आदेन कहते थे। आदेन हनु का भी हो सकता है फल का भी हो सकता है और सम्भावना का भी। जगत के समस्त पदार्थों और व्यापारों का हनु और फल यह शास्त्र बताया करता था और दूसरे पदार्थों और व्यापारों के मिलन से उत्पन्न होनेवाली सम्भावनाओं का भी आदेन करता था इसी लिए उसने सम्पूर्ण भारतीय जीवन को निविड भाव से प्रभावित किया है।

शाक्त मार्ग का लक्ष्य—अद्वैत

मेरे मन में आगम शास्त्रों के प्रति बड़ी श्रद्धा है और इन शास्त्रों ने जो मनुष्य को बहुत ही महत्त्वपूर्ण जीवन दर्शन दिया है उसमें प्रति अपार निष्ठा है। परन्तु श्रद्धा और निष्ठा ज्ञानानुगा होकर ही चरिताय होती है। ज्ञान विरहित ज्ञान पर यह गहन दिशा की ओर भी ले जा सकती हैं। ज्ञान चैतन्य स्वरूप है। श्रद्धा और भक्ति चैतन्य धर्म हैं। शिव आगमिका की महता भक्ति इनका आश्रय है। निष्ठा स्थिति की वाचक है परम शिव की इदंता शक्ति की आधिता है। परन्तु विष्णु चतुर्थ परमानन्द विभव परम शिव ही हैं। शक्ति तांत्रिका की भाषा में परमानन्द विभव शिव में जब नानात्व विस्तार की इच्छा होती है तो वह सगुण शिव और शक्ति के रूप में अपने आपका द्विधा विभक्त कर लेते हैं और उन्हीं का अभिन्न शक्ति महता प्रधान नाद और 'इदंता प्रधान' विष्णु में प्रकाशित होती है। अर्थात् इन दोनों को इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति भी कहा गया है। परम शिव की ज्ञान शक्ति से ये दोनों युगपत् समुत्पन्न होती हैं। शक्ति और शिव एक-दूसरे से अभिन्न हैं—

शिवस्याप्यतरे शक्ति शक्तेरप्यतरे शिव ।

अतएव नव जानीमश्चद्वर्चद्विषयोरिव ॥

महता और इदंता नाद और विष्णु इच्छा और क्रिया शक्ति और स्थिति काल और स्थान और आधुनिक काल के कटिनुग्रह और ब्रह्म एक ही शक्ति के द्विधा विभाजित रूपा का नाम है, भिन्न भिन्न धरातलों पर। ज्ञान शक्ति से उत्पन्न इच्छा और क्रिया नाद और विष्णु का निरंतर अग्रसर होत रहने से जगत्प्रपञ्च प्रतिभात है। इस ही शाक्त आगमों में अधोमुख त्रिकाण के प्रतीक से व्यक्त किया जाता है। ज्ञान, इच्छा, और क्रिया से

त्रिपुटीकृत जगत्प्रपञ्च को रूपायित करने के कारण ही शिव की आद्या शक्ति त्रिपुरा कही जाती है। नान से विमुख इच्छा और त्रिया विमूढ त्रिआग्रा में अग्रसर हो रही है। कण-कण में व्यक्ति व्यक्ति में, समिष्ट-समष्टि में अपनी-अपनी दिशाआ में अग्रसर होती गूँनेवाली इच्छा शक्ति और त्रिया शक्ति इस भेद प्रधान प्रपञ्च को जलिल से जटिलतर बनाती जा रही हैं। यदि कभी ऐसा हो कि नान शक्ति और त्रिया शक्ति नजदीक आने लगेँ और नान की और उमुख हो जाएँ और इच्छाएँ और सारी सारी त्रियाएँ क्रमशः मिमटती हुई नान में परिसमाप्त हो जाएँ और मनुष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की उस दिव्य वाणी के मायात्कार का अग्रसर होने कि सब कर्माखिल पाथ नान परिसमाप्यत तो वह उध्वमुष त्रिकोण बन जिसे शास्त्रकारों ने शिव के प्रतीक रूप में समझाया है और जीवन चरिताथ हो जाए। पर कहा हो पाता है ? माया प्रपञ्च में पड़े हुए भाग्यहीन जीव का यह सुख कहाँ मिलता है ? एक बार उलझा सो उलझता ही जाता है। विहारी ने निराश हाकर कहा था—

को छूटयो यहि जाल परि कत कुरग अकुलात ।

ज्यों ज्यों सुरभि मज्जो चहत त्यो-त्यो उरभक्त जात ॥

जीवन के हर मोड़ पर मैं ऐसा ही अनुभव करता हूँ। और इस अनुभूति की मात्रा निरन्तर गाढ़ होती जा रही है गाढ़ से गान्तर। भागवत में ब्रह्माद ने कहा था कि जो जितेन्द्रिय नहीं होत परन्तु शास्त्र और नान की चर्चा का रोजगार करते हैं वे फिर भी बहुत बुरे नहीं हैं जो दाम्भिक हैं वे तो इतना भी नहीं कर पाते

मोनवतधृततपोऽध्ययनस्वधमचर्चा रहो जपसमाधय आपवर्ग्या ।

प्रायः पर पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां धार्ता भवत्युत न चात्र तु दाम्भिकानाम् ।
फिर आगमा व इम सिद्धांत पर भी बड़ा भरासा है कि परमगिव जो साक्षात् चितस्वरूप हैं उनकी अभिन सचिद्रूपा महाशक्ति ने कण-कण को अपनी लीला में मिकत कर रखा है क्षण-क्षण को उदभासित कर रखा है। कुछ भी उनकी कृपा से बचिन नही है, कहीं भी, कभी भी, किसी भी धरातल पर उनकी उँगली पकड़कर सहाय लिया जा सकता है। यह सारा जगत्प्रपञ्च अततोक्तवा एक है और सचिद्रूपा भगवती की महिमा से उदभासित है। किसी भी क्षण—और किसी भी कण बिंदु पर उस कर्णामयी की कृपा पाई जा सकती है। निराग हान की या हार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना सविदेकः विभानि ।

तत्त्वं तत्त्वे परमरचना सविदेकः विभानि ॥

प्राप्ते प्राप्ते बहलतरला लम्पटा सविदेका ।

भाप्ते भाप्ते भजत भवता व हिना सविदेका ॥

तत्र शब्द बहुत 'यापन' अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है । उसके बार में काविक आगम के तन्त्रांतर पटल में कहा गया है कि तत्त्व और मात्र से समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करने और समार के भात जीवों का आण करने के कारण इसे 'तन्त्र' कहते हैं

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमत्र समवितान् ।

आण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

इसीलिए युक्ति-तक के आधार सत्य के अवघो ग्रास्त्र भी तन्त्र कह जात रहे हैं । फिर अनेक प्रकार के जीवन दशना और साधना पद्धतियाँ में विश्वास करने वाले संप्रदायों के तन्त्र हैं । कभी कभी हर प्रकार के आगम को तन्त्र कहने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है । लेकिन लोक में तन्त्र का प्रचलित अर्थ ग्रावत आगमों की साधना पद्धति है । बताया गया है कि आगम तीन श्रेणी के हैं—वर्णव शव और ग्रावत । व्यवहार में इनके प्रचलित नाम संहिता, आगम और तन्त्र हैं । वैसे सभी आगमों के लिए सभी ग्रावतों का व्यवहार दिया जाता है । प्रधान रूप से हमारे इन प्रदेशों में तो तन्त्र का अर्थ बहुत ही संकुचित रूप में ग्रहण किया जाता है । दुर्भाग्यवश तन्त्र के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों में साधन विधियों का अधिक विस्तार देखकर गिहित लोगों में उस संकुचित अर्थ के प्रति आप्रह्वय भी गया है । यह बात भुला दी जानी है कि शाकन तन्त्रों के क्रिया बहुल ग्रन्थों में भी एक अन्तर्निहित तत्त्ववाच्य हो सकता है । स्वयं ग्रावत आगमों में तन्त्र ग्रावत एक निश्चित अर्थ में व्यवहृत हुआ है । सात्त्विक अधिकारियों का उद्देश्य करके लिख गए आगम तन्त्र कह जाते हैं राजस अधिकारियों के लिए उपनिष्ट ग्रन्थ 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारियों को लक्ष्य करके लिख गए ग्रास्त्र टामर कहे जाते हैं । कहा जाना है कि परम शिव का पाँच गतियों—चिन्, भान, पान, इच्छा और क्रिया है । इसीलिए उन्हें पंचयक्त्र कहते हैं । उनके पाँच मुद्रों के नाम हैं—मृगान्त, तन्मुख, सद्योजात, वामदेव और अघार । इन्हीं पाँच मुद्रों से निकली वाणियों के प्रसार विस्तार में १० सात्त्विक आगम, १८ रौद्रागम और ६८ भस्वागमों की उत्पत्ति हुई है । शिव और ग्रावत आगमों के अनुसार परमेश्वर गिर तत्त्वों एक होकर भी गतियाँ के सम्प्रत्य भू में अनन्त रूप में प्रतिमान होत हैं । उनकी प्रत्यक्षाएँ मौगी तीर पर तीन हैं—भेद प्रदान, भगभेद प्रदान और अभेद प्रदान । भेद प्रदान प्रत्यक्षा से १० सात्त्विक आगम भगभेद प्रदान

रूप में १८ रीति आगम और अभेद प्रधान रूप से ६४ भस्वागमों का आविर्भाव हुआ है।

सम्मान्य तन्त्र' में वाइम भिन्न भिन्न आगमों की चर्चा है। इनमें चीनागम पाशुपत पाचरात्र, कापालिक भैरव, अघोर, जन, बौद्ध आदि आगमों की भी चर्चा है। लेकिन बहुत प्राचीन काल से ही 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग शाक्त आगमों के साथ होता आ रहा है। कुजिक्क मततन्त्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तनिधि में लिखी मिली है जिसमें निश्चित रूप से सिद्ध होना है कि गुप्त काल के पहले शाक्त-तन्त्रों का प्रचार बहुत अधिक था।

म० ६०१ ई० का 'परमेश्वर मत तन्त्र' और उसी समय का 'महाकुलागना विनिर्णय तन्त्र' भी प्राप्त है। हमने इसके पहले तीन प्रकार के मुख्य आगमों की चर्चा की है। इनमें वष्णव आगम दो हैं—पाचरात्र और वसन्तम सहिताएँ। शैव आगमों के माहेश्वर लाकुल, भस्व, कश्मीर आदि कई सम्प्रदाय हैं। शाक्तों के भी नौ आम्नाय और चार सम्प्रदाय हैं—कैरल, कश्मीर गौड और विनास। शाक्त आगमों का प्रचार समूचे भारत में है। इन सभी साम्प्रदायिक आगमों में थोड़ा अन्तर होत हुए भी समानताएँ बहुत हैं। सभी अपने उपास्य को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। देवता की शक्ति या शक्तिधाम में तथा ईश्वर की इच्छा शक्ति तथा क्रिया शक्ति में विश्वास करते हैं। आयर एवेलन (सर जॉन वुडरफ) ने कहा है कि मन्त्र यन्त्र यास, दीक्षा गुरु आदि तत्त्व जिसमें हा वही तन्त्रशास्त्र है और इस दृष्टि से सभी आगम तन्त्रशास्त्र हैं या तान्त्रिक प्रभाव-पन्न हैं। भेद अनेक हैं पारिभाषिक शब्द भी अनेक हैं पर मूल स्वर सबका एक है। उन्होंने लिखा है कि इनका मूल स्वर इतना मिलना जुलता (एक) है कि पारिभाषिक शब्दों के भिन्न भिन्न होने से कुछ बनना बिगड़ता नहीं है। पाचरात्रों की भाषा में लक्ष्मी शक्ति, व्यूह और सकोच कहें या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुंदरी महाकाली तत्त्व और कचुक कहें इनमें कुछ विशेष भेद नहीं रह जाता।

निम्नदेह, आगम शास्त्र बहुत प्राचीन हैं। योगशास्त्र के भाष्यकार ने अनेक स्थलों पर आगमिका को प्रमाण कोटि में रखकर उसका मत उद्धृत किया है। इनमें स्वभावतः आने वाले प्रकार के दार्शनिक विज्ञान और व्यावहारिक विधान भी रह हैं। परन्तु शैव और शाक्त आगमों की परिणति अद्वैतवाद में ही हुई है। ब्रह्मवाक्य से यह ध्वनि स्पष्ट यादों अलग है। समूचे शाक्त तन्त्र के साहित्य में शक्ति की विद्रुपा माना गया है। वस प्रायः सभी देवी शक्ति को किसी-न किसी प्रकार स्वीकार करते ही हैं और पिछले दो हजार वर्षों से तो भारतवर्ष का गायद

ही कोई ऐसा संप्रदाय हो जिसमें उपास्य देवता की शक्ति की कल्पना न की गई हो। हमारे देश का मूर्तिशिल्प शक्तिव्यवस्था के कारण बहुविचित्र रूप में समृद्ध हुआ है। शैव और शाक्त तंत्रा की विशेषता यह है कि वे चिद्रूपा शक्ति को स्वातन्त्र्यमयी मानते हैं। यह विश्व शक्ति के स्वातन्त्र्य का ही फल है। जान बूझकर 'परिणाम' शब्द का व्यवहार नहीं कर रहा हूँ। भारतीय दर्शन में परिणाम शब्द का एक निश्चित पारिभाषिक अर्थ है। उस दृष्टि में यह परिदृश्यमान जगत् विश्व शक्ति का वसा ही परिणाम नहीं है जिस प्रकार दही दूध का परिणाम होता है। वह वस्तुतः शक्ति का प्रसार और संकोच है। प्रसार और 'संकोच' शक्ति आगमों के अपने शास्त्र हैं लेकिन आधुनिक भौतिकशास्त्रियों के वाइब्रेशन (कम्पन एजन्) से आश्चर्यजनक साम्य रखता है। जगत् के रूपायित होने के मूल में संकोच और प्रसार या एजन् की निरंतर चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। सो यह दृष्टि शक्ति का परिणाम नहीं शक्ति रूप ही है। आधुनिक भौतिकशास्त्री 'एजन्' या 'संकोच प्रसारशील कण' का सहान तो पा गए हैं पर उसकी चिद्रूपता स्वीकार करने में हिचकते हैं। शाक्ततंत्र उसकी चिद्रूपता को स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है। मूलतः वह चतुर्थ तत्त्व का ही अवयव है। उपरले स्तर पर विरोध और विलय दिख सकता है पर मूल प्रश्न एक ही है। यह भाग भी चिन्मय आनन्द तत्त्व का ही अवयव है।

हमारा यह देश बहुत बड़ा है स्थान में भी और काल में भी। न जाने कब से यहाँ के ऋषियों मुनियों सेता और कवियों ने अपने अनुभूत सत्य को नाना भाव से प्रकट करने का प्रयत्न किया है। कला का सम्मान निरंतर होता आया है परन्तु ऐसे शक्तिशाली संप्रदाय भी उत्पन्न हुए हैं जो कला को नहीं मानते। अनेक प्रकार की विचारधाराएँ जब क्रमबद्ध युक्ति-तर्क का साथ नहीं देती हैं तो 'दर्शन' कहलाती हैं जब जीवन के नियामक विचारों और आचरणों का रूप ग्रहण करती हैं तो धर्म कहलाती हैं और जब जीवन के मंगल के लिए ठोस मुद्दों के रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं तो कला का नाम धारण करती हैं। यह कला छन्द और स्वर का भासाध्यम ग्रहण करती है चित्र वास्तु और मूर्ति के रूप में भी प्रकट हो सकती है तथा मिट्टी पत्थर काँसा और ताम्र की कमनीय मूर्तियों का रूप भी ले सकती है। इस प्रकार प्रत्येक आचरण और निर्माण के पक्ष एक स्पष्ट विचारधारा है। इन विचारों का दार्ष्टिक रूप स्थान है आचरणमय रूप धर्म है और मुद्दों भासाध्यम अभिव्यक्ति कला है। हमारे स्थान का मान्य धर्म ही कला है। मनुष्य में उसका वर्णन करना सम्भव नहीं।

उसी प्रकार धर्म और कला का साहित्य भी अत्यन्त विस्तृत है। संस्कृत पाणिनीय, अपभ्रंश और आधुनिक देश भाषाओं में लाखों पुस्तकें लिखी गई हैं और धर्म भी लिखी जा रही हैं। क्या कोई एक मूल बात इस सारे साहित्य में खोजी जा सकती है? ऊपर ऊपर में देखने से यह बात बिल्कुल कठिन जान पड़ती है। यह कौन-सी बात है जो आस्तिक और नास्तिक बड़े जानवाले दशना में, सगुण और निगुण कही जानवाली भाव धाराओं में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर मानी जाने वाली विचारशृंखलाओं में समान रूप से पाई जा सके? क्या ऐसी कोई प्राण-वर्ति है जो ऊपर ऊपर से बहु विचित्र दीखने वाली दशना धर्म और कला की मूल प्रवर्तिका मानी जा सके? कुछ विद्वानों ने उस मूल प्रवृत्ति को खोजने का प्रयास किया है। सर जान उडरफ ने एक भारत धर्म की कल्पना करने का प्रयास किया था। उनका कहना है कि भारत धर्म की पहली विशेषता यह है कि यह जगत् केवल अस्त-व्यस्त और अयवस्थित रूप नहीं है बल्कि एक निश्चित व्यवस्था में बँधा हुआ है। यह व्यवस्था या आडर बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु है। यह जगत अस्त-व्यस्त वस्तुओं का भाग्य नहीं है जिसके प्राणियों में परस्पर कोई नियामक सम्बन्ध नहीं है। धर्म वही नियामक सम्बन्ध है जिसके कारण विश्व स्थित है। धर्म रहित ससार नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा किन्तु ऐसा होना संभव नहीं है क्योंकि धर्म अधर्म में भी रहता है। धर्म सम्पूर्ण के अंश में भी विद्यमान हो सकता है वह ससार की वस्तुओं की प्रवृत्ति में निहित है। अतएव इसका अभ्युदय प्रकृति में अनुकूल है। धर्म ऊपर से लादा हुआ कोई विधान नहीं है। ससार की जो वस्तु जिम रूप में है वह उन तत्त्वों की प्रकृति के कारण है जिनके द्वारा उन वस्तु का निर्माण हुआ है। धर्म वस्तुओं सत्ता का प्रकाशन है, वह पूर्णतया सही नष्ट हो सकता है जब ससार नष्ट हो जाय। अतएव धार्मिकता में विश्वास करने का अर्थ किसी निरकुल नियन्ता के सम्मुख अपनी विवशता में नहीं, अपितु तब पर आधारित बुद्धिग्राह्य सिद्धान्तों में विश्वास करना है। धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है। यह समष्टि भी अनुरूपात्मक है जिस सिद्धांत द्वारा व्यष्टि और समष्टि अज्ञान भाव से सम्बद्ध रहते हैं वह भी धर्म ही है। अतएव भारत धर्म के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह ससार के सभी प्राणियों से अनकानेक रूपों में सम्बद्ध है तथा अधार्मिक वह है जो अर्थ प्राणियों का कोई ध्यान रखे वगैरे सभी को अहंकार वगैरे अपने सीमित स्वार्थों की दृष्टि से अविता है। यदि सभी प्राणी इस अधार्मिक प्रवृत्ति को ग्रहण कर लें तो ससार का नाश हो जाय। इसीलिए सभी मजहब नैतिकता के मूल सिद्धांतों के विषय में एकमत हैं। सभी मजहब इस बात की

धोषणा करते हैं कि स्वार्थपरता पाप का मूल है। इससे प्रकट हुआ कि नतिवृत्ता मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है। सामान्य धर्म सब नियामक है किन्तु विविध धर्म विविध प्राणि मनुष्य के अनुसार भिन्न भिन्न है। अतः अननुरूपता दुःख है और असद व्यवहार ही सब दुःखों का कारण है। जो जसा करता है उसका वैसा ही फल मिलता है यह एक सब ग्राह्य सिद्धांत है। कमानुसार फल भी दिखाई दे सकता है और काफी समय के उपरांत भी। यदि इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में सही किन्तु कर्मों का फल भोगना अवश्य पड़ता है। जन्म और मरण का अर्थ शरीर रचना और शरीर का नाश है। शरीरवद्ध आत्म-तत्त्व शाश्वत और सत्वातीत है। भौतिक विश्व वनता बिगड़ता रहता है क्योंकि दृश्य और अदृश्य होते रहने का तात्कालिक कारण इच्छा है जिसे बौद्ध मत तृष्णा कहता है। तृष्णा का अर्थ है दृश्य जगत् में भोग की इच्छा। 'इच्छा' कर्म की प्रेरणा देती है और कर्म पुनः इच्छा उत्पन्न करता है। कर्म धार्मिक भी हो सकता है और अधार्मिक भी। धार्मिक कर्म से व्यक्ति को सुख और अधार्मिक कर्म से दुःख होता है। प्रत्येक जीवात्मा को सत्सार सवार-बार उस समय तक जन्म लेता रहना पड़ता है, जब तक कि उसे सभी इच्छाओं से मुक्ति नहीं मिल जाती। पुनर्जन्म का सिद्धांत इसी से सम्बद्ध है। सत्सार में अर्थ और काम का अनुगमन करते हुए भी धर्म के द्वारा अल्पम्यायी सुख प्राप्त किया जा सकता है और धर्म के द्वारा उचित इच्छाओं की पूर्ति की जा सकती है। धर्म अर्थ और काम इन्हीं तीनों को ब्राह्मण मत पुरुषार्थ वग कहता है किन्तु जिस प्रकार इच्छा का प्रकाशन रूप में होता है उसी प्रकार इच्छा का अभाव रूप हीनता की ओर ले जाता है। जो इस स्थिति (इच्छा हीनता) को प्राप्त कर लेता है वह मोक्ष या निर्वाण मिल जाता है। मोक्ष को चौथा पुरुषार्थ कहा गया है जो परिवर्तनशील रूप जगत से ऊपर परम आनन्द की अवस्था है। इस स्थिति में पहुँच जाने पर इच्छाजय दुःखा से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार लोग या तो सबसामान्य नियम अर्थात् कर्म का पालन करते हुए अपनी सासारिक इच्छाओं की पूर्ति कर सकते हैं या इच्छाओं को त्याग कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। धर्ममय सम्यक्ता यष्टि और समष्टि का दृष्टि करती हुई मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति करती है जिससे प्राणि मान को आयोग्योचित दुःख से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि सदा मानवता का तात्कालिक और अन्तिम लक्ष्य है।

इस विचार में धर्म का बड़ा व्यापक अर्थ लिया गया है। वह समस्त विश्व की परिचालित व्यवस्था का ही नामांतर है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि

समूचे भारतीय माहित्य में कुछ मुख्य बातें समान भाव से स्वीकार कर ली गई हैं। मनुष्य जा कुठ करना है उनका फल मिलता है फल भोगन के लिए उसे अनक जम धारण करने पड़त हैं फलाकाशा के कारण अनेक योनियां में भटकना पड़ता है आकाशा की निवृत्ति से उम छुटकारा मिलता है। निश्चित रूप से आचरण रूप में उल्लिखित सामान्य और विशेष धर्म उसे फलाकाशा निवृत्त करने के उपाय मात्र हैं। आकाशा को समाप्ति उम 'गुद्ध निर्लिप्त केवल' रूप में छाड़ देती है। यहा केवल बन जाना ही कवल्प या मोक्ष है। साधक का स्व रूप में अवस्थान ही कवल्प है। वही परम काम्य आनंद है।

गिव प्रकाश हैं शक्ति विमल हैं। प्रकाश रूप शिव के साथ विमल रूपा शक्ति के सामरस्य को ही 'परा सविन' कहते हैं। गिव मदा शक्तियुक्त रहत हैं इसलिए उनके निष्क्रिय रूप की कल्पना ही नहीं की जाती। शक्ति आगम होना-मात्र (भवन्-यापार) को भी क्रिया ही मानत हैं। शिव में शक्ति योग से जो कन त्व है वह स्वाभाविक है, कृत्रिम आरोपित या आगतुक नहीं। गुद्ध प्रकाश या गुद्ध विमल एक आन्श या कल्प (आन्डियल) है, जो पश्चित्तना मात्र है। आत्मन्यति में अवस्थान ही गुद्ध विमल है। उमी के क्षोभ से 'एजन' होता है और विनप्रपच का विस्तार होता है। जो कुठ है (अस्ति) और जा कुछ भासित हो रहा है (भासत) वह सब विद्रुपा भगवती का ही रूप है। शाक्त आगम मानता है कि 'अस्ति' और 'भासत' वस्तुतः एक ही तत्त्व के वाचक हैं। जा है (सत्ता) उमी का भान होता है (चिति) और जिसका भान होता है वह सत्ता ही है। सा चिति ही सत्ता है और सत्ता ही चिति। सत्ता के स्तर पर चिति का और चिति के स्तर पर सत्ता का साक्षात्कार हो सकता है।

काई नहीं बना सकता कि परिदृश्यमान विश्व प्रपच कव गुरु हुआ इसीलिए यह अनादि कहा जाता है। श्रुति से जाना जाता है कि सच्चिदानंद परब्रह्म का इच्छा हुई कि मैं एक हूँ अनक होऊँ। क्यों उसे इच्छा हुई? उस किस बात का अभाव था? काई नहीं बना सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम म्पद है। ज्ञान से इच्छा हुई और इच्छा न क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान इच्छा क्रिया का क्रम गुरु हो गया। वस्तुतः सारा जगत ज्ञान इच्छा क्रिया रूप में त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगम में इस त्रिपुटीकरण की विधायिका शक्ति का ही त्रिपुरा कहा गया है। ब्रह्म का यह एक शक्ति है। तब आगम में परब्रह्म को ही परमगिव कहत है।

इस वचन-वाक्य के आधार पर ही समस्त आत्मिक दंगन सृष्टि प्रपच की व्याख्या करते हैं। ज्या ही ब्रह्म में इच्छा शक्ति का आविर्भाव हुआ त्या हा

वह सगुण हो गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदांत इसी को अपरब्रह्म कहता है और श्वागम अपरगिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है इसीलिए श्वागम सकल परमात्मा कहता है। सकल अर्थात् कलायुक्त। सच्चिदानन्द विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरब्रह्म या सकल परमेस्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपा की कल्पना की जा सकती है। परम (सुप्रीम) तत्त्व क्रमशः सूक्ष्म (सटल) और फिर क्रमशः स्थूल (पास) रूप में व्यवर्तित हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुँचने की अतवर्ती अवस्थाएँ अनन्त होंगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना मार्ग के यात्रियाँ ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा में जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्दन या कंपन (वॉब्रेशन) है उपनिषद्वादी की भाषा में 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द कंपन का ही मूल रूप है। इसलिए शब्द और शक्ति आगमा में ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा शक्ति को नाद कहते हैं। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानों से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते हैं। शारदा तिलक (१७) में कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित सगुण) परमात्मा के रूप में प्रकट हुए और उन्हीं की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई।

सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमात्मन ॥

आसीच्छतिवस्ततो नादस्तमाद्विन्दुसमुदभव ॥

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञान शक्ति कहते हैं। नाद इच्छा शक्ति है बिन्दु क्रिया शक्ति है। यही ज्ञान इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छा शक्ति गति है बिन्दु या क्रिया शक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है स्थूल उच्चरित शब्द उसका ठीक ठीक तात्पर्य नहीं समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसका मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थूल शब्दों वाली भाषा है। सो जब हम उस तत्त्व को समझाने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं तो सारी बातें उसमें अँटती नहीं। इसलिए ऐसे प्रसंगा में भाषा को साधन मान्य मानना चाहिए। उसकी सीमा में नहीं उलभना चाहिए। यही स्थूल

शब्दों में इस बात को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिए प्रथम स्पन्दनाद रूप में प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे मूढ़म अक्षर अकार है। सबसे स्थूल ओष्ठ्य वर्णों का अन्तिम म' कार है जो ओष्ठों को तो बंद कर ही देता है नाक तक की सहायता लेता है। अब हमारा जाना हुआ मूल स्वर या नाद अ कार ही है। मान लीजिए, प्रथम स्पन्द 'अ' रूप में गति-शील हुआ। यदि सिर्फ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नहीं होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिये आवश्यक है उसके साथ ही बिन्दु भी म कार अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु रूप में ही तो बदलता है। अब अ स्वर में म' व्यञ्जना से रुद्ध हुआ। कण्ठ से ओष्ठ तक उस यात्रा करनी पड़ी और आष्ठ बंद हो गए। बंद होते समय वह उ जैसा हो जाएगा, इस प्रकार अ-उ में प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नहीं हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बंद हो गया तो फिर कम्पन कैसा? अ उ में के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूल वर्णों में समभाया गया है इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समझने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्ड-व्यापी स्पन्द (कास्मिक वादब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त मूढ़म रूप में—होगा। इसीलिए यह ओकार' विश्व का आरम्भ है। सगुण ब्रह्म का यह नवरूप है। नव, नवीन आदि शब्द बहुत अच्छे नहीं हैं क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है, प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नहीं हुआ। वह प्रतिक्षण नित्य स्पन्दित हो रहा है। इसीलिए केवल 'नव' कहना ठीक नहीं है—वह प्रणव है। 'नव नव जायमान' है।

आगमा में ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया-शक्ति को ही बीज, नाद और बिन्दु कहा गया है। आधिदैविक भाषा में वह तो यह ब्रह्मा, विष्णु, और शिव हैं। इस त्रिधा विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ-देवता ही ब्रह्मा विष्णु और शिव हैं। सृष्टि करने को उद्यत अपरब्रह्म ही के ठीक पूर्व की निष्कलुप अवस्था को निरजन कहा जाता है। निरजन ही सकल परमात्मा या अपर ब्रह्म के रूप में अभिव्यक्त होता है।

परब्रह्म या परमशिव से अपरब्रह्म या सकल परमात्मा तत्त्व की परिणति का व्यवहार में कोई विशेष उपयोग तृतीय है। पर मध्य काल के आगमा और निगुणमार्गी साहित्य में मध्यवर्ती अवस्थामा की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओं के आधार पर अत्यविकसित बुद्धि के अनुयायियों ने

पौराणिक आख्यान लिखे हैं। जसा कि पहले बताया गया है निष्कल परम शिव स सगल परमात्मा तक की यात्रा की, मनुष्य-बुद्धि की पहुँच के अनुसार सफ़ा-हजारा अवस्थाओं की गणना की जा सकती है की भी गई है। कभी कभी तो इस विस्तार की जटिल पद्धतियों से औसत तत्त्वजिज्ञासु बिटक जाते हैं। मूल बात को मन में रखकर देखने पर बिदक जान की सम्भावना नहीं रहेगी।

गास्त्रकारा ने चार अवस्थाएँ बताई हैं—परा पश्यती, मध्यमा और वररी। बिंदु के विस्फोट के पूर्व परा नामक अवस्था होती है। मूलाधार में कुण्डलिनी में यह विद्यमान है। जब यह गतिशील होती है तब उसमें स्पन्द होता है। इसी सामान्य स्पन्द को पश्यती कहते हैं। इसका स्थान मूलाधार से मणिपूरचक्र तक है। यही इसका मन से संयोग होता है। कई पुराने व्याकरण परा वाक् की चर्चा नहीं करते। अभिनवगुप्त ने जरूर व्याकरणा के इस मत को ठीक नहीं माना था (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी द्वि भा ५० १६१) पर जहाँ स्पन्द ही नहीं है उससे व्याकरणा का क्या लेना देना। स्फोट के बाद पश्यती—देखती हुई। बीज में स अक्षर के निकलने पर जो क्रमशः वक्र भाव से ऋजु भाव तक आने की स्थिति है उसकी कल्पना कीजिए। यही साधक भक्ता की वामा या कुटिला पागहस्ता भगवती हैं। यह शिव की वामा शक्ति है शब्द और अर्थ की एकमेव मिलितावस्था। फिर मध्यमा जहाँ वण अलग अलग होकर सूक्ष्म रूप में उपस्थित होते हैं। यही ऋजुरूपा दण्डहस्ता देवी है। यह पञ्चांग-मुञ्ज मालिनी देवी है क्योंकि ससृजतवणमाला के ५० अक्षर की माला धारण किए हैं। इन्हीं पञ्चम अक्षरों के प्रस्तार विस्तार से अनन्त पद बनते हैं अनन्त पञ्चमय जगत का अर्थ देते हैं। यह भावजगत है। फिर मातका। शिव की ज्येष्ठा नामिका वररी वृत्ति। तत्त्व अलग अर्थ अलग। मात्र साधना के सिद्धांत इसी व्यवस्था से बन हैं। मात्र द्वारा उत्पन्नित देवता नामि स के तब विद्यमान मध्यमा वृत्ति के विषय हैं। ध्यान द्वारा मन संयोग हानि से मात्र चतुर्थ सिद्ध हाना है। जिस मात्र में मन संयोग नहीं है वह मात्र हो नहीं है। मनन के योग से ही मात्र बनता है। अन्नयाम मुक्त और ध्यान से ही पूर्ण मात्र चतुर्थ का उद्घाटन हाना है। उत्पन्नित देवता नित्य नहीं हाना। मात्र तब जाकर सफल होता है जब उसमें अपने ही भीतर विद्यमान विगुह चतुर्थ का साधक पा जाता है—तत्त्व हाना जाता है। तत्त्वज्ञान में इन बातों का बहुत विस्तार है। देवी के विभिन्न रूपों का मन्त्रावस्थाओं की कल्पना है। वरत चिन्मय तत्त्व का उपलब्धि के लिए मन्त्रा ध्यान-मात्र और स्तत्र लिख गए हैं। के त के ऊपर वररी वृत्ति

का क्षेत्र है। कठ के नीचे क चरा म सूक्ष्म अक्षरा का विग्रह है। अक्षरा न लिए ही दला का कल्पना है। किसी अग्रेज साधक को यह तत्त्व सूझ गया होता तो छद्मीय दला की ही कल्पना करता पर भारतीय साधका को पचाम दला की कल्पना करनी पड़ी। इक्यावनवा अक्षर स्वय आकार है—एकाक्षरब्रह्म। अ म लेकर म तक के अक्षरा का—इसीलिए पद और पदाय-मात्र का—समाहार ओम।

कई बार पद जाना होता है पदाय भी सामने होता है पर 'पहिचान' नहीं होती। पहिचान अर्थात् प्रयमिनान। आप गुलाब शब्द (पद) जानते हैं, गुलाब अय (पदाय) भी है फिर भी पहिचान नहीं। इससे स्पष्ट है कि पद और पदाय के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदाय को मिलान वाला तत्त्वद्रष्टा चेतन मन है। जहाँ वही वाच्य और वाचक हागा वही चेतनद्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नहीं तो अय की प्रतीति नहीं होगी। अब आकार या प्रणव क्या है? यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतन तत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ सम्बद्ध है। लेकिन आगमा के अनुसार प्रणव या आकार सूक्ष्म वेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दा में ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिए उसे वाचक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नहीं है। वहाँ भी ज्ञान ज्ञेय भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरों को बना बीज नाम और बिन्दु कहा गया है वही ज्ञान, इच्छा और प्रिया कहा गया है। यह स्थूल बीज नाम और बिन्दु से भिन्न बल भावरूप में वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म है। यही कारण है कि आगमों में यज-याग का विधान करने वाले ध्व-यामक वेद का स्थूल वेद कहा है। और यज-याग की साधन भूत सामप्रिया का रूप देनेवाले, भावरूप में वर्तमान आकार रूप नमोऽस्तुते स्पर्श को सूक्ष्म वेद कहा है। यह भी साधन है पर ज्ञान नहीं है अपर ज्ञान है। पर ज्ञान तो परामर्शित ही है। जहाँ ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान एकमेव हो जाते हैं, वही ज्ञान दय या दान मान नहीं है। वह द्रव्याम्बर भी है। एनीलिंग परावर्तिन इसमें भी अधिक सूक्ष्म है। शवागमा में इस परामर्शित की महिमा इस प्रकार बताई गई है—प्रत्यक् विष्णु में वही चक्षता परामर्शित स्थापित हो रही है। प्रत्यक् मनाभाव में उमा परामर्शित

का रूप स्वरूप हो रहा है। और प्रत्यक्ष बोद्धि का स्वरूप म उगी परावर्तित का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार परावर्तित हो मंगल व स्थूल और सूक्ष्म सभी तत्वों के रूप प्रकाश और शेष के रूप में प्रकाशित हो रही है।

तो विपुल ज्ञानमयी सविज्ञा भगवती ही इस दृश्यमान जगत्प्रलय के रूप में हमारे सामने है। किसी बिन्दु पर उन्हें प्राण दिया जा सकता है। समस्त जगत्प्रलय की सार्वभौमिकता ही उक्त कुल कहा जाता है। निम्न प्रकृत है। कुल और प्रकृत का संबंध ही कोशिका है। गोमातृमातृकर म इसी भाव को इस प्रकार कहा गया है—

कुलं शक्तिरिति प्राणम स्रज्जलं निम्न उच्यते ।

कुलेऽकुलस्य सद्यः कीलमित्यभिधीयते ॥

प्राण तन मद्रस सत्य म विभाग करता है। गगार के सभी पक्षम जाता, जय और नात इन तीनों भावों में विभक्त है। ज्ञान ज्ञान का कर्म है और ज्ञेय उसका विषय। ज्ञान की प्रक्रिया ही ज्ञान है। बताया गया है कि नाता जय और नात के रूप में यह जगत् विपुलीका है। ज्ञान रूप धर्म के एक हान के कारण पगारे सजानीय है प्रमाण 'कुल' है। कुल सम्प्रदायी सच्ची जानकारी को ही कौल नात कहते हैं। और भी स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि ब्रह्म पानरूप है जगत् ब्रह्ममय है इसलिए ब्रह्म म भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो पूर्ण मद्रस ज्ञान है वही कौल ज्ञान है। प्रत्यक्ष मनुष्य समान भाव से विवर्णित नहीं है। पर सत्य को प्राप्त करने का इच्छा होनी चाहिए। कुछ जीवा म सासारिक आकर्षित अधिक होती है। साधना भाग म माने पर व पशु भाव के साधक कहे जाते हैं। उन्हें ऐसा इगलिए कहा जाता है कि वे मोहपाग म बद्ध रहते हैं। ऐसे साधकों के लिए शास्त्रों म अलग ढंग की साधना विहित है। कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें मद्रस भाव का उथला आभास मिला रहता है। यह भी भगवती का अनुग्रह ही है कि उन्हें परम सत्य का आभास मिला रहता है। गुरु की कृपा से और निरंतर साधना से वे मोहपाग का छिन करने में समर्थ होते हैं। ये और साधक कहे जाते हैं। ये प्रमाण सीढ़ी दर सीढ़ी मद्रस ज्ञान की ओर अप्रसर हात रहते हैं और आगे चलकर मद्रस ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। परंतु जो साधक जमजमातर के पुण्य के बल से ज्ञान को ग्रहण कर सकते हैं वे दिव्य कहलाते हैं। इन तीन श्रेणी के साधकों में भी अनक मध्यवर्ती अवस्थाएँ हैं। इनके लिए अलग अलग साधनाओं का विधान है।

तत्रगास्त्र म सात प्रकार के आचार बताए गए हैं—वेदाचार वण्ण वाचार, शवाचार अभिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कीलाचार। इनमें जो (१) वेदाचार है उसमें वेदिक काम्य कम यागयज्ञादि विहित है। तत्र क मत से वह सबसे निचली कोटि की उपासना है। (२) वण्णावाचार में निरामिष भोजन पवित्र भाव से व्रत उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है। (३) शवाचार में यम नियम, ध्यान धारणा, समाधि और शिव शक्ति की उपासना तथा (४) दक्षिणाचार में उपयुक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भाग आदि का सेवन करके इष्ट मन का जाप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है परन्तु ये चारों ही आचार पशु भाव के साधक के लिए ही विहित हैं। इसके बाद वाले आचार वीर भाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार में आत्मा का वामा (शक्ति) रूप में वल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार में मन की अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से ससार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेल तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इनमें सबसे श्रेष्ठ आचार है अन्तिम कीलाचार। इसमें कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गए होते हैं और जसा कि 'भावचूडामणि' में शिवजी ने कहा है, कर्म और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तण में लेगा मात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रहती

कदमे चन्दनेभिन पुत्र शत्रौ तथा प्रिये ।

श्मशाने भवने देवि तथा य काञ्चने तृणे ।

न भेदो यस्य लेशोऽपि स कील परिकीर्तित ।

इसी भाव को बताने के लिए मत्स्य द्र ने अकुलवीर तत्र में कहा कि जब तक अकुलवीर रूपी अद्वैतज्ञान नहीं तभी तक वाल बुद्धि के लोग नाना प्रकार की उत्पन्ना करते रहते हैं। यह धूम है यह गास्त्र है, यह तप है यह लोक है यह भाग है यह दान है यह पुत्र है यह शत्रु है यह भोग है यह भय है यह श्रुद्ध है यह अश्रुद्ध है यह साध्य है यह साधक है यह तत्त्व है यह ध्यान है—य सब वाल बुद्धि के विकल्प हैं (अकुलवीर तत्र ए ७८ ८७)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उस प्राणायाम समाधि और ध्यान धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (१७ २०) वह ब्रह्मा गिव रुद्र बुद्ध, देवी आदि उपासना से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है

(२६ २८)—यह मन उपाशान पूजा प्रमत्ता होम तप्य नैमित्तिक विधि
विन्यास, तीर्थ यात्रा धर्म प्रथम स्नान ध्यान मन्त्र क प्रणीत हो जाता है
(४३ ४६) । और प्रणिश कर्ता म कर्ता मान गत शक्ति समस्त द्वा म
रहित हो जाता है

अथ हि मनुजोक्तो न सपुद्गलविषयिणः ।

यस्तु तन्मात्र का सत्य प्रकृत ज्ञात ही है । तत्र यथा म जो मनः
प्रकार की विविधा और साधारण का विचार है वह मनः प्रकार क
प्रवृत्तियों को ध्यान म स्मरण निगे मय है । तन्मात्र म धीन सत्य
मनजन मनधन्य ता विदुः तन्मा गुरुत्व ही तात्पर्य प्रत्युद्धि मानुषा
विचार याम प्राप्ति विषयो निस्तारपूजक समर्पण गर्ह है । उनका सत्य
विषय और शक्ति के प्रत्यक्ष रूप क साथ सामर्थ्य अनुभव करना ही है । तत्र
मुख्य सत्य प्रत्यक्ष या जीवनभाव ही है । यह धारण या को यही धन्य
भार भाषा म कहा गया है पर उद्धृत एक ही है—विधि निषेध क पचड स
ऊपर उठकर मूल और प्रकृत भाव की प्राप्ति ।

कोन माग का प्रयत्न संप्लित और फिर भी प्रत्यक्ष शक्तिशाली
उपस्थापन कौनोपनिषद् म श्रिया हुआ है । इस उपनिषद् क पढ़ने स इस
मत के साधकों का अन्तिम विचार और रुचिरापी मोक्षोपनिषद् हो जाता
है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नारायणवा स इस मत का मोक्ष
भेद है । यह उपनिषद् सूत्र रूप म लिखी गई है । आरम्भ म कहा गया है कि
ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मगति (धर्म) की जिज्ञासा होनी है ।
ज्ञान और बुद्धि ये दोनों धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं । जिनम एकमात्र ज्ञान ही
मोक्ष का कारण है और मोक्ष वस्तुतः सर्वोत्तम मिद्धि (अर्थात् समस्त ज्ञान
तत्त्व प्रपञ्च के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं । प्रपञ्च से तात्पर्य
पाँच विषयो (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से है । इन पाँच विषयों को जानने
वाला प्राण विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है । फिर योग और मोक्ष दोनों ज्ञान हैं
अधम का कारण अज्ञान है परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है ।
मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धर्म नहीं है फिर भी अविद्या के कारण
ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मोपनिषद् के साथ देखता है अविद्या भी ज्ञान अर्थात्
ब्रह्म की शक्ति ही है । अज्ञान ही ज्ञान है और अधम ही धर्म है । इसका
मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति म कोई भेद नहीं है । यही मुक्ति है ।
जीव के पाँच वचन हैं—(१) अनात्मा म आत्मबुद्धि (२) आत्मा मे अनात्म
बुद्धि (३) जीवो म परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और

आत्मा (अर्थात् उपासक) में भेद बुद्धि, और (५) चतुर्थ अर्थात् परब्रह्म से आत्मा को पृथक् समझने की बुद्धि। ये पांचों बंधन भी ज्ञान रूप ही हैं क्योंकि यह सभी ब्रह्मशक्ति का विलास हैं। इन्हीं बंधनों के कारण मनुष्य जन्म मरण के चक्र में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। जान यह है—समस्त इन्द्रिया में नयन प्रधान है नयन अर्थात् आत्मा। घमविरुद्ध काय करणीय है घम विहित करणीय नहीं है। यहां घम का तात्पर्य घमशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है। सब कुछ शांभवी (शक्ति) का रूप है। इस भाग के साधक के लिए कष्ट मान्य नहीं हैं। अर्थात् ब्रह्मिक कम कण्ड चरम साधना नहीं है। गुरु एक ही होता है और भ्रत में सर्वव्यपता बुद्धि प्राप्त होती है। मन्त्रसिद्धि से पूर्व वेदादि का अर्थात् कमकण्ड का त्याग करना चाहिए उपासना पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिए। अर्थात् ही याद है। किसी का कुछ नहीं गिनना चाहिए। अपना रहस्य शिष्य भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर से शक्ति बाहर से शैव और शैव में वृष्णव होकर रहना यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोक-निष्ठा बजरीय है। अर्थात् यह है—व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे। नियम मात्र का बाधक है। किसी को न संप्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए। सबमें समता की बुद्धि रखनी चाहिए ऐसा करनेवाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

इस धक्कामार भाषा में जो बात मुख्य रूप से बही गई है वह यह है कि भद्रत भाव की अनुभूति ही चरम लक्ष्य है। भेद-बुद्धि के कारण ही ऊँच नीच छोटा-बड़ा, पवित्र अपवित्र शास्त्र अशास्त्र का विचार किया जाता है। जो पहुँचा हुआ जानी है उसके लिए ये नियम और मर्यादाएँ अनावश्यक हैं।

आगमा का परमात्मा वही बाहर गजने को नहीं है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में उपलब्ध है—ब्रह्माण्डेऽप्यस्ति यत् किञ्चित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा। इसी शरीर में शिव और शक्ति की लीला निरन्तर चल रही है। मन्त्र शक्ति, जप और ध्यान के सहारे अतृप्त सक्ति भागवता को प्राप्त किया जा सकता है। परवर्ती बात के भक्ति भाग में हम विचार के ग्रहण किए जाने और स्वीकार करने के प्रयत्न हुए हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य इस साधना से पूर्णतः प्रभावित है। चाहे वह निगुण मार्गी भक्ता का साहित्य हो चाहे मगुणमार्गी भक्ता का उसके मूल में आगमा के तत्त्ववाद का प्रभाव है। भारतीय घम-साधना या निप-साधना के रहस्या को समझने के लिए तत्त्वसाहित्य के मूलमिद्वाना की जानकारी आवश्यक है।

इतने महत्वपूर्ण शास्त्र की उपेक्षा एक भयंकर प्रमाण है। परन्तु मेरे गाय कहना पड़ता है कि यह प्रमाण हो रहा है और पता नहीं क्या तब बसना रहेगा। सस्कृत-साहित्य के अनुरागियों के लिए तो इस शास्त्र का अनुशीलन आवश्यक है ही, परन्तु भारतीय भाषाभाषा के साहित्य के अध्ययन के लिए भी परम आवश्यक है। माना है सस्कृत-साहित्य सम्मेलन इस महत्वपूर्ण साहित्य के सम्पादन, प्रकाशन और प्रचार में अधिक सचेष्ट होगा। तब सोसाइटी ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस देश में भी ऐसा प्रयत्न होना चाहिए और भारतीय भाषाभाषा के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वों की व्याख्या का प्रयत्न होना चाहिए। यदि हमारे देश के विद्वानों में ऐसा प्रयत्न करने की सद् बुद्धि आए तो आज की यह चर्चा साधक बही जाएगी। इस माना को मन में रखकर मैं आपकी अपनी हार्दिक प्रणति निवेदन करता हूँ।^१

१ सत्रपरिषद् (अखिल भारत सस्कृत साहित्य सम्मेलन दिल्ली, १९६६) के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

सविद्रूपा महामाया

तुलसीदासजी कह गये हैं कि इस जगत में सभी पदार्थ भरे पड़े हैं, परन्तु कम हीन मनुष्य उन्हें पा नहीं रहा है—सकल पदार्थ एहि जग माही, कर्म हीन नर पावत नाही' । निस्मन्नेह यह जगत 'पदार्थों से भरा है । पदार्थ, अर्थात् पदों के अर्थ, शब्दों का मतलब । घट एक शब्द है और मसाल में जो एक विशेष आकार प्रकार का बना हुआ पदार्थ है वह उसका अर्थ है । व्यवहार की दुनिया में जो कुछ दिखाई दे रहा है वह किसी-न किसी पद का अर्थ है—पदार्थ है । यह जगत पदार्थों से भरा है । मगर हम तरह-कहने-सुनने वाले मान लते हैं कि पद पहले है पद का अर्थ बाद में । घड़ा नामक पदार्थ वस्तुतः 'घड़ा' शब्द का अर्थ है । उस वस्तु का नाम घड़ा नहीं है बल्कि 'घड़ा' शब्द का वह अर्थ है । बात कुछ साफ नहीं हुई । यह भी सोचने का कोई ढंग है ? लेकिन इस देश के बड़े-बड़े दार्शनिक ऐसा ही कह गये हैं और हमारी भाषा इसी ढंग से सोची हुई अभिव्यक्तियों को ढोती चली आ रही है । हम जानकर और मन-जान में भी वस्तुओं को पदार्थ कहते जा रहे हैं । कुछ बात होनी चाहिए । तुलसीदासजी के कथन के उत्तराध से आज हम नहीं उलझने जा रहे हैं । सच मुच ही 'कर्महीन नर इन पदार्थों को पा रहा है या नहीं पा रहा है इस क्षण में अभी हम नहीं पढ़ रहे हैं । सवाल यह है कि जगत पदों के अर्थ से भरा है या इस दुनिया में जितनी चीजें दिखाई दे रही हैं, उनके लिए हम अलग-अलग नाम दिया करते हैं शब्द बनाया करते हैं । शब्द नाम है और अर्थ 'रूप' है, शब्द 'पद' है और उसके द्वारा अभिधेय वस्तु 'पदार्थ' है । इस विचित्र देश के विचित्र विचारक कहते आये हैं कि समस्त पदार्थों में भरा है—जो कुछ दिख रहा है या अनुभूत हो रहा है, वह पद का अर्थ है । मन मानना नहीं चाहता

है वह अनन्त शून्य का सघात है । और काल की बात भी साविए । जो आनेवाला है और जो बीत गया, दानो कभी ये या हागे, इसका कोई सघात है ? प्रत्यक्ष तो केवल एक क्षण है । हम सिर्फ एक क्षण को जानते हैं । परन्तु क्षण वह छोटा से छोटा है । कल्पना काजिए, हम जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वह कितना है । एक क्षण । और भी छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—कुछ नहीं, शून्य । अर्थात् काल भी अनन्त शून्य का सघात है । वह एक प्रतीति मात्र है । सा यह जो कुछ स्थान और काल के रूप में दिख रहा है वह कुछ नहीं है । गान्धर्व ने कहा था— कुछ नाही का नाम दे, भरमा यह ससार ।' भरमा ही तो रहा है यह ससार । जो कुछ नहीं है उसका कुछ नाम दे देता है और जब नाम दे देता है तो उसका अर्थ भी समझन लगता है । जरा साविए कि किसी वस्तु का अनन्त भाग क्या सचमुच 'शून्य' है ? अनन्त' और शून्य मनुष्य की बुद्धि की पराजय के सूचक हैं, भाषा में चलनवाले काम चलाऊ शब्द हैं । नहीं तो क्या अनन्त और कैसा शून्य ?

यह अनन्तता विन्दु गति है शून्यता विन्दु स्थिति है । एक गति मात्र है दूसरा स्थिति मात्र है । आधुनिक बोली में पहला कठिनुग्रम है दूसरा 'क्वेटम' है । तन्त्रशास्त्र में इन्हीं के लिए पारिभाषिक शब्द हैं नाद और बिन्दु । नाद अनन्त गति है और बिन्दु शून्यस्था स्थिति । मध्य दोनों से पर है । जगत में जो कुछ रूप दिखता है वह गति और स्थिति का विलास है । नाद बिन्दु का उन्मिषित रूप है । इसलिए सारी सृष्टि नाद बिन्दु का विलास है । नाद को ब्रह्म की इच्छा शक्ति कहते हैं बिन्दु को क्रिया शक्ति । नाद पद रूप में प्रकट होता है बिन्दु पन्थाय के रूप में । नाद शब्द है बिन्दु रूप है । जो वास्तविकता है उस ब्रह्म कहा जाता है । क्या यह मजेदार बात नहीं है कि जो शब्द और अर्थ के अतीत है उसे भी एक (ब्रह्म) नाम देना पड़ा वह भी वाक या वाणी का विषय बना । परन्तु नाम भन्ने ही द लीजिए ब्रह्म उमका अर्थ ही नहीं सकता । वह तो वस्तुतः अनुभव की वस्तु है । गूग का गुन् है । स्पष्ट है कि पद और पन्थाय नाद बिन्दु के पचड़े हैं नाम रूपामक सृष्टि के निष्पाद हैं । जहाँ स नानात्व घुस होना है वहाँ स पद और पन्थाय गुरू होत हैं । जो लोग सोचते हैं कि पद पहले हैं पन्थाय बाद में उनको स्पष्ट मालूम है कि पहले और बाद में ये शब्द प्रतीति मात्र है । अपने आप में ये एक प्रकार की प्रतीति की धारणा लिख हुए हैं ।

एक बार मस्तिष्क के एक विदेशी विद्वान् गान्तिनिवर्तन आय थे । जब मैंने उन्हें आग्रमजरी दिखाई तो वे आनन्द से उछल पड़े । यों ही वह आग्रमजरी

है, जिसका वर्णन करते सस्मृत क कवि नहीं अधात ? उन्होंने अपार रूप प्रकट किया । मैं सोचने लगा कि य न जाने कब से 'आम्रमजरी' पढ़ते आय है और कई दिनों से उसका अर्थ—आम्रमजरी पत्रार्थ—भी दल रह है पर अनन्तिन आज हो रह है । इनके सामने पदाथ था पत्र भी था फिर नवीनता कहाँ आई ? नवीनता असल में प्रतीति में थी । पत्र और पदार्थों को जोड़नेवाला भी कोई तत्त्व है । वह हमारे भीतर बसा हुआ चतुर्थ है । योगशास्त्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापन करनेवाला तत्त्व ही प्रत्यय कहा जाता है । कहने का मतलब यह है कि केवल नाम और बिंदु य दो ही तत्त्व मानने से काम नहीं चलेगा । इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला भी कोई तत्त्व होना चाहिए । जैसे नाद ब्रह्म की इच्छा शक्ति है बिंदु क्रिया शक्ति है, वस ही ब्रह्म की एक ज्ञान शक्ति है । इस प्रकार सारा परिदृश्यमान जगत ब्रह्म की ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति से त्रिपुटीकृत है । कुछ जाता है कुछ ज्ञान है कुछ नय है । इसी त्रिपुटीकृत शक्ति का सहित रूप निपुत्रा कहा जाता है । कहते हैं किसी समय ब्रह्म को—जिसे शाक्त आगम शिव कहना पसंद करते हैं—इच्छा हुई कि मैं एक हूँ अनेक होऊँ और वह अनेक बना । मैं एक हूँ यह उसकी ज्ञान शक्ति का विलास है मनक होऊँ यह उसकी इच्छा शक्ति का विलास है और अनेक हो जाना क्रिया शक्ति का विलास है । इस प्रकार वह प्रपञ्चात्मक त्रिकोण बनता है जिसके मूल में ज्ञान है और दोनों ऊपर की ओर जानेवाली भुजाएँ इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति हैं और उनका उपरल किनारा को जोड़नेवाली रखा प्रत्यय या प्रतीति है ।

शाक्त तंत्र इसे अधिस्त्रिकोण कहते हैं और अनेक रूपा में इसका उल्लेख करते हैं । शिव ही पिंड में जीवरूप से बसा है । फिर जब उसे ज्ञान होता है कि मैं अनेक हो गया हूँ एक होऊँ और एक होने की ओर अग्रसर होता है तो ऊर्ध्वमुख त्रिकोण बनता है और वह मुक्त हो जाता है । दक्षिण ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के योग से अधोमुख त्रिकोण श्रीचक्र बनता है—प्रतीक रूप में इसी को योनि और लिंग कहते हैं । इसी का उपरला आधा शिव का त्रिशूल है और निचला आधा शक्ति का 'पाश' है । शक्ति, ब्रह्म का अनेकत्व की ओर जानेवाला रूप है शिव एकत्व की ओर । एक माया है दूसरा मोक्ष है । शाक्त आगमों में न जाने कितने रूपा में इसे समझाया गया है और कितने प्रतीकों के द्वारा इस अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है । प्रतीकों के अंतर्निहित अर्थ का देखना चाहिए । उन्ही को चरम और परम मान लेना बुद्धिमानी नहीं है ।

शब्द को इच्छा शक्ति का स्थूल रूप मानने से ही पद का प्रथम स्थान है

पन्था का परवर्ती। परन्तु यह सीमित चित्त का विकल्प मात्र है। पद ही या पन्था, ज्ञाना मूल ज्ञान के बाद ही आते हैं। कसा भावचय है कि अनन्त पदा और पन्थों का यह जगत् वस्तुतः अनन्त गूया का सघात है अर्थात् प्रतीतिमात्र है। जिस यह प्रतीति हो रही है वही सत्य है। और फिर भी जो प्रतीति हो रहा है उसे अन्तिम विश्लेषण के बाद गूय कहना और अन्तिम सन्नेषण के बाद अनन्त कहना केवल मानव-बुद्धि की पराजय की कहानी मात्र है। यह बुद्धि हारती है पर हार नहीं मानती। थकती है पर थकन का नाम नहीं लेती। जो कुछ दिख रहा है या लिख सकता है सबका छापना चाहती है छाप नहीं पाती छाप न पाने से हार नहीं मानती। यद्यपि इसकी सीमा स्पष्ट है पर इसके पीछे कोई सीमाहीन सत्य काम कर रहा है यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है। इस बुद्धि के पीछे काम करने वाली जो असीम शक्ति है, उसी का नाम शक्ति है, देवी है त्रिपुरा है, महामाया है। वह पदा की कल्पना करती है पन्थों की सृष्टि करती है और पद और पन्थों की प्रतीति का हेतु बनती है। इस तीन रूपात्मक जगत् में वह अनन्त रूपों—अनन्त रूपा—में देखी जा सकती है। फिर भी वह एक है। ऐसे पद भी हैं जिनका अर्थ किसी ने कभी दखा नहीं। भावजगत् में स्थित वे पन्था भी उसी की सृष्टि हैं। स्वर्ग है, अपवर्ग है कल्प वक्ष है कामधेनु है—पर हैं पर पन्था किसी ने दखा नहीं। स्थूल जगत् में वे अप्राप्य हैं, पर भावजगत् में वह उन्हें उपलब्ध करा सकती है

सर्वस्य बुद्धिद्वयेण जनस्य हृदि सस्थिते

स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।

जो कहता है कि यह दृश्यमान जगत् पदार्थों से भरा है वह वस्तुतः यह मान कर चलता है कि समस्त दृश्यमान जगत् के पीछे किसी चेतन की इच्छा शक्ति काम कर रही है। फिर जो कहता है कि काल व्यक्ति चित्त की प्रतीति मात्र है वह मानता है कि प्रतीति के पीछे काम करनेवाली कोई बड़ी शक्ति है। इसी लिए समष्टि चित्त की प्रतीति का हमारे शास्त्रकारों ने 'कल्प' कहा है। प्रत्येक पुराण कल्प और सृष्टि की बात बताता है। कल्प समष्टि चित्त की कल्पना या इच्छा है। सृष्टि उसकी क्रिया है।

नाम या शब्द क्या है? वस्तुतः यह एक प्रकार का कम्पन है। उपनिषद् का भाषा में एजन् है, आधुनिक विज्ञान इसे वाइब्रेशन कहना पसंद करता है। आज यह बात तक साध्य नहीं रह गई है कि शब्द और प्रकाश और नाद और कपन ये सब एक-दूसरे के रूप में बदले जा सकते हैं। केवल वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ही नहीं व्यवहारजगत् में भी बदले जाने लगे हैं।

क्योंकि, ये सब एक ही शक्ति के मायाभूत से बनी हुई चीज हैं। इसलिए आज गति या कपन या एजन् की मूल शक्तिरूपता सदैह का विषय नहीं रह गई है। यह गति कहां से आती है। कौन है जो केवल स्थितिरूपा, निस्पृह निष्कप, स्थिर सत्ता में विशोभ पड़ा करता है कपन की तरंग उल्लसित करना है निस्पृहता में विस्फोट लाता है? वचनानिष्ठ चुप है। मनुष्य की बुद्धि हैरान है। परंतु हैरान होकर भी वह चुप नहीं रह सकती। कहीं से आवाज आ रही है कि कोई है जो उसे गति दे रहा है। गति किसी की इच्छा है तभी यह सब स्पष्ट हो रहा है। यह भीतर की ध्वनि है—हां, वह है। ऋषिया की बोला में वह तो ओम, तत सत—हां वह है।

इस दश में ऐसे भी मनीषी हुए हैं जिन्होंने क्षण तक आकर रुक जाना पसंद किया। क्षणभर—बहुत ही छोटा क्षण अर्थात् शून्य। सब क्षणिकम्। सब शून्यम्। मगर इन अनंत शून्य के सघात से बने काल और दश की प्रतीति को क्या भुलाया जा सकता है? कुछ मनीषी ऐसे हैं जो क्षण तक रुक तो नहीं जाते पर प्रतीति के धोखे को मानने से भी इनकार करते हैं। शाक्त आगम अद्वैत तत्त्व में विश्वास करते हैं—चैतन्य अद्वैत तत्त्व में। परंतु प्रतीति को धोखा नहीं कहते। यह जो कालखंड के मायम से परिणत होना हुआ जगत दिख रहा है, वह अपने आप में चाहें जसा हा प्रतीत हो अवश्य रहा है। कौन इस परिणाम का नियन्ता है। कला और काष्ठा—काल और देश की छाती, स छाती सीमा—आदि के रूप में विश्व की परिणति हम देख रहे हैं। कौन है इस परिणाम की प्रेरणादायिनी शक्ति? शाक्त आगम ने चित्तत्त्व की इसी चिन्त शक्ति को सक्टा नाम दिए हैं

कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी ।

विश्वस्योपरती शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

इन शून्योपम काल खंड के भीतर से परिणत होत हुए शून्योपम बिंदुखंड के विपुल सघात में जो अपार गाभा है वह क्या धोखा मात्र है? हरे हरे तृण शाद्वलो से शोभित धरित्री विशाल वनस्पतियां से भरापूरा वनप्रदेश कल-कल निनाद से मुखरित सातस्विनी में प्रतीयमान मोदय क्या छलना मात्र है? इस अलाव्य सौभाग्य रूप की सूत्रधारिणी धर्म है। नाम उसका अनेक है, रूप उसके विपुल है पर है वह एकमात्र सवित—चिद्रूपा भगवती। रूप, रस, वण, गंध से भरे इस विश्व की सूत्रधारिणी सविद्रूपा महामाया।

अलोक्यसौमने देवि विश्वरूपस्य सौत्रिके ।

सविद्रूप महामाये परस्परस्वहृदिनि ॥

शक्ति का सविद्रूपा होना इन आगमा की विधि देन है । आचम्यजनक
 ढग स उनका प्रतिपादन आधुनिक विज्ञान से मिलता है । केवल विज्ञान शक्ति
 की सविद्रूपता स्वीकार करने में हिचकता है । क्या तक ?

तात्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि

भारतवर्ष के मूढ य विद्वान महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज महादय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ तत्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि है। यह ग्रन्थ हाल ही मे बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना की ओर से प्रकाशित हुआ है। कवि राजजी नाना शास्त्रो के समर्थ है परन्तु आगम शास्त्रा के तो वे अद्वितीय विद्वान हैं। वे स्वयं उच्च काटि के साधक हैं और शास्त्रीय ज्ञान उनके लिए केवल बुद्धि विलास नहीं है। वे उसमें रच हुए हैं और वह उनमें रमा हुआ है।

भारतवर्ष का तत्र साहित्य बहुत विशाल था। अब भी बहुतकुछ नष्ट हो जान के बाद जो कुछ बचा हुआ है वह बहुत विस्तीर्ण है। अब शाक्त वर्णव जन बौद्ध आदि सम्प्रदायो में तत्र का विशाल साहित्य उपलब्ध होना है परन्तु कविराजजी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में ही स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रसंग में तत्रिक साहित्य शास्त्र से शाक्त और तत्र आगम तथा तन्मूलक ग्रन्थ समझना चाहिए। यद्यपि वर्णवागमा में भी शाक्त दृष्टि है और आगमिक संस्कृति का साधारण पृष्ठभूमि का प्रकाश उसमें भी लक्षित होता है तथापि उसकी आलोचना पथक रूप से होनी चाहिए। यह समझ कर उस स्थान नहीं दिया गया। इस प्रकार इस ग्रन्थ में अब और शाक्त आगमा में उपलब्ध हान वाली शाक्त दृष्टि की ही चर्चा है परन्तु प्रसंग क्रम से अनेक स्थला पर आयाय आगमा की चर्चा भी आ ही गई है। ग्रन्थ का पाठक अयाय आगमा से एक दम अपरिचित नहीं रह जाएगा कविराजजी की प्रतिपादन शला की एक बड़ी विगपता यह है कि वे एक मत के मिद्वान्त का प्रतिपादन करते समय अयाय दाना के समशील मिद्वान्त का प्रतिपादन भी कर जाते हैं और यह

बताना नहीं भूलत कि अनाय मनों से प्रतिपादित मत का पाथक्य किस बात में है। कभी कभी वे पाठकों को सहज ही समझा देते हैं कि दूसरे दशना में अन्य नाम से प्रसिद्ध होने पर भी इन मतों का प्रमुख प्रमुख शब्द वस्तुतः समानाधिकारिक है। इससे पाठकों का ज्ञान-परिसर तो बढ़ता ही है किसी परिचित शब्दावली का सहारे अपरिचित तत्त्व को हृदयगम करने में उसे आसानी भी होती है। कवि राजगी की यह शैली बड़ी प्रभावोत्पादक है। पाठकों को इससे प्रतिपाद्य के ठीक ठीक स्वरूप को समझने में बड़ी सुविधा होती है।

सांख्य साहित्य में जो शाक्त दृष्टि है, वह क्या है? कविराजगी ने बताया है कि यह शक्ति शिव से अभिन्न होने पर भी विश्वसृष्टि का मूलभूत है। इसका परिणाम नहीं होता, परन्तु प्रसरत तथा सकोच होता है। भोक्ता तथा भोग्य दोनों ही शक्ति रूप हैं। उनकी नियामिका भी शक्ति है। वस्तुतः अभिनय भी शक्ति ही करती है और अपने अभिनय की प्रेरिका भी शक्ति ही है। स्वरूप स्थिति में जीव भी शक्त्यात्मक होने के कारण द्रष्टामात्र है। तदस्य जीव स्वरूपतः द्रष्टा, माया जाल से बद्ध भोक्ता तथा किंचित जाग्रत जीव ही अभिनेता है। पूर्ण जागरण के अन्त में जीव ही शिव रूप में प्रकट होता है। उस समय पूर्ण शक्ति उसी की निज शक्ति है। आधारण पाठकों का मन में प्रश्न होगा कि यदि यही तन्त्र-वाङ्मय की शाक्त दृष्टि है तो वह अद्वैत वेदांतियों के जीवो ब्रह्म व नापर का ही क्या शङ्कातर में कथन नहीं है?

इसके उत्तर में कहा गया है कि—

‘महाशक्ति अथवा स्वातन्त्र्यमयी चित् शक्ति परम शिव के साथ अभिन्न रूप में विराजित है। इस अवस्था में शिव और शक्ति में सामरस्य रहता है। शिव इसको शिव की सज्ञा देते हैं और शाक्त इसे शक्ति कहते हैं। परन्तु है यह (परम शिव) अखंड स्वरूप एक ही वस्तु जिसमें प्रकाशात्मक शिव के साथ विमल या प्रतिशय या स्वभाव का सादात्म्य है। यही शक्ति है। प्रकाश में यह घन (शक्ति) न रहने पर उसमें अथ का पराग पड़ने पर भी स्फटिक के सदृश वह प्रकाश जड़ सा ही है। यही प्रकाश का कत त्व रूप जड़ घन है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नहीं। शक्ति हीन प्रकाश (शिव) स्वतन्त्रता के अभाव से महेश्वर नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मवाद से शाक्त दृष्टि की यही विलक्षणता है। प्रकाश जैसे ग्राह्य का प्रकाशक है वैसे ही ग्राहक का भी। परन्तु इस शक्ति रूप विमल के स्फुरण या प्री-मुह्य का सम्बन्ध होने पर प्रकाश में कत त्व आ जाता है। तब तक प्रकाश आणवादि मल शक्ति को दूष्य करने में समर्थ होता है। इसका फल यह होता है कि इन सब मल का प्रकाश के स्वरूप में

अनुप्रवेश हो जाता है। यहाँ मलमय का अर्थ भी गमय लेना चाहिए। पुण्य पाप की यासना मज्जिम मन का उद्भव होता है उग मन का नाम 'कामज मन' है। वेद्य वस्तु को अपने स्वरूप में भिन्न समझना माया मन है तथा अप्रमाण यथा अथवा जीवन् प्राणव मन का नाम स प्रसिद्ध है। अग्नि की उत्पत्ति चन्द्रमा की गीतनता, गरुड की मृदुता पापाण की ककशाता माया रण मनुष्य का मोह और योगी का ज्ञान यह सब परमेश्वर का स्वातन्त्र्य मात्र है।

'शक्ति दृष्टि का एक वशिष्ट्य यह है कि इसमें परम प्रकाश का निष्प्रियत्व स्वीकार नहीं किया जाता। वस्तुतः इस मन में परम स्थिति में भी तन्मयता गति रहती है। स्वरूप दृष्टि में देखने से यह गति त्रिधा से अभिन्न है। उस परम प्रकाश या स्वात्म को मत् मानने पर भी उसमें भयानक त्रिधा माननी पड़ती है एवं उस त्रिधा का वर्त्ता उते मानना पड़ता है। यह जो भवन त्रिधा है यह कत त्वमयी है। इसी का पारिभाषिक नाम है विमल। यह भवन या सत्त्वसामान्य रूप है। भाव के माने हैं त्रिधा इसलिये धातु का अर्थमात्र ही त्रिधा है जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—जब यह आत्मस्वरूप में स्थिति मात्र है तब उस विमल का नाम है शुद्ध विमल परन्तु जब यह क्षोभ का अनुभव करता है अर्थात् जब इसमें विकल्पा का उदय होता है तब विचित्र प्रपञ्च का स्फुरण होता है। यही तात्त्रिक परिभाषा से विमल का विश्वविस्तार कहा जाता है। यह कहना अनावश्यक है कि प्रकाश का स्वभाव ही शक्ति है। इसलिये प्रकाश स्वभावतः ही कृत्यकारी है। इन कृत्यों का सम्पादन आगतुक धर्मों से निष्पन्न नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो प्रचलित ब्रह्मवाद है उसमें चित शक्ति की स्वतन्त्रता नहीं स्वीकार की गई। ब्रह्म मृष्टि के लिये जब ईश्वर रूप में आता है तो उसमें जो ऐश्वर्य है वह स्वाभाविक नहीं है बल्कि औपाधिक तथा आगतुक है जब कि शक्ति दृष्टि से वह स्वाभाविक है। वस्तुतः शिव का जो स्वभाव है—अपना निजी भाव—वही शक्ति है। इसीलिये आगमसम्मत चित स्वरूप में ऐश्वर्य औपाधिक नहीं है स्वाभाविक है। परम शिव में प्रकाश (चित्) और विमल (शक्ति) एकमेक होकर स्थित हैं। इसीलिए प्रकाश रूप चित् और विमल रूप शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। कविराजजी ने और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जानी की भाषा में अद्वैत शिव का नाम परम चित् है और उपासक की भाषा में अद्वैत शक्ति का नाम महान् शक्ति या परमाशक्ति है। दोनों नाम एक ही अखण्ड सत्ता के निर्देशक हैं—शक्ति मत स्वतन्त्राद्वैत

वाचन है। इस मन मे कोई भी तदव्यतिरिक्त नहीं माना जाता। इसीलिए गिव और शक्ति का वास्तविक रूप एक ही स्वभाव है

त्व यथा गिव मयो तथा गिव

स्त्वमयो हि गिवयोरभेदिनो

तत्त्वमेकमवहिमु त्वास्पद

यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया। (कोमल वल्लीस्तव)

परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सबत्र यह अद्वय अखंड शक्ति व्याप्त है। स्थावर उन्मिद पशु पक्षी आदि चौरामी लाख यानिया में भ्रमण करता हुआ जीवन मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। मनुष्येतर यानिया सिर्फ भोग यानि हैं। उनमें प्राक्तर गुभागुभ कर्मों का भोग किया जाता है। मनुष्य पूर्व यानिया में केवल अन्नमय और प्राणमय कोष हात है। मनोमय कोष का विकसित रूप मनुष्य दह में मिलता है। इसमें मनुष्य केवल भोगना नहीं कुछ करता भी है। यह कत त्व का अभिमान भी एक विकट बाधन है। अनन्त जन्मजन्मांतर तक वह बाधना ही रहता है। साधना द्वारा धार्मिक आचरण द्वारा गुण की कृपा से भगवान का अनुग्रह प्राप्त होत पर ही विवेक जान होता है और मनुष्य अपने आपका पहचान पाता है और उस इस अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार हाता है। मनुष्य अपने चेतन का केवल चेतन रूप में साक्षात्कार करता है। योगी इसी से सतुष्ट हो जाता है, बंधन की अनुभूति का ही नाम बन्धन है। पर तात् दृष्टि कभी नहीं रक्ती। सिर्फ अपने को जड़ तत्त्वा समझ कर बंधन रूप में अनुभव कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। इस अनुभव का आनन्द लेना और भी गहराई की साधना है। जब तक इस आनन्द की उपलब्धि नहीं होती तब तक जीव गिव नहीं जनता। गिव जो स्वभावतः शक्ति युक्त है जो समस्त विश्व में घनीकृत होकर भी विश्वमय है। यह गावन दृष्टि की विनशयना भवना और मन्ता में भी मिलती है। इस परम सत्य की अनुभूति और अनुभूति का रसा स्वादन ही मनुष्य का जीवन का चरितार्थ करता है।

इस ग्रन्थ के अनुशीलनार्थी को भारतीय तांत्रिक परम्परा का अन्तर्गत ज्ञान उपलब्ध है। कविराजजी ने अनन्त प्रमत्ता का इ गति में उल्लेख किया है जो आरम्भिक जिज्ञासु के लिए कुछ बहिन प्रतीत होत हैं। वस्तुतः कविराजजी के लिए गान्धर्व वरामन्त्र की भांति है। एक प्रमत्ता को छोड़ने पर अनाम्य उसमें सम्बद्ध अन्तर्गत प्रमत्ता उपस्थित हो जाते हैं। मय का पारमार्थिक रूप गावन दृष्टि से क्या है किस प्रकार परम गिव से इस गृष्टि का प्रसार हुआ है, अद्वय और इन तत्त्व के भिन्न भिन्न रूपों का रहस्य क्या है, अगवन्तुष्ट

घोर वगे प्राण होता है मानव देह व दत्तित व... एक एक भेद घाति का वता रहस्य है सामरस्य या मतामिताय वता भीत है घाति घनर रहस्य का समान भाव दम दम में मिलता ।

गुप्तक में कुछ घातोर भी है जो एकतर ममा व दम में निम लप प्रतीत होता है । सदति दाम दुर्ग व निम उनम मतामिताय ज्ञातामिताय निमभी है निर भी वे गुप्तक में जोड़ हुए ग ही ममा है ।

वदितानत्री की प्रतिपाद्य दीया की एक मदा विनाया मर है नि वे प्रति पाया का घनिष्ठम मर कर मने है । दूगरी यात्र मर है नि वे निमी मापना या मर व मार मचाई लमी यात्र गहा कता निमल पात्र के पित म उमर प्रति काई विगुणा ममा हो मर । गाम दुर्ग व मरायाया घातोर का मर यणम युति मार मम म निमरी है । व निमी दुर्ग व प्रति घनात्र का भाव गही द्यम करम मरि र कुछ मम प्रकार की मारमा उमम मर है कि एक एक प्रकार की निमिया मपि घोर ममार वाव मपिचारी व निम निमिचन प्रकार की सापतामा का विपाय किया गया है । व पूरी मचाई के साथ विम्वान करत है नि घातोरमया सारी मापनाएँ एक ही महामत्य की घोर साधन की म जाती है । सममम गाह तीर गो पुष्टा व दम महान् मय म साधना गाहिय व बहुमृत्य रन भर पडे है । दीपकाया ज्ञान घोर साधना का यह परिपक्व पन है । हम दम मयमने महत्त्वपूर्ण प्रकाशन मानकर मका हासिय स्वागत करते हैं ।

प्राचीन जीवन के मुकुमार विनोद

यदि रस भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है और निस्संदेह बहुत ही महत्वपूर्ण वन है जो भारतवर्ष न सत्कार के साहित्य को दी है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण है कि 'रस' को प्रधान वस्तु समझ कर भी भारतीय कवि और वाच्यशास्त्री वाच्य में ऐसी बहुत सी शब्द चानुरी का स्थान देते हैं जिनका रस से कोई सम्पर्क नहीं। अक्षरच्युतक मात्राच्युतक विदुमती प्रहेलिका' आदि के साथ रस का कोई सीधा सम्बन्ध तो है ही नहीं

१ अक्षरच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमें से एक अक्षर हटा देने से दूसरे कवि वाङ्मय की प्रतीति हो। जैसे—कुर्वा दवाकराश्लेष दधचरणा डबरम। देव योस्माकसेनाया करेणु प्रसरयसो। इसका अर्थ यह है कि हे महाराज, तुम्हारी सेना का करेणु (हाथी) सूय के बिंदु को टक्ता चलने का आडंबर करता हुआ फल रहा है। इसमें करेणु गद्द का क अक्षर हटा दें तो रेणु (=घूल) रह जायगा और अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

मात्राच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमें एक मात्रा (आकार इकार आदि) हटा देने पर कवि वाङ्मय प्रकट हो जाय।

विदुमती—ऐसा श्लोक जिसमें अक्षरों की जगह पर बिंदु देकर मात्राएं दी गईं हों। इन बिंदुओं पर से श्लोक को पढ़ना होता है—जैसे

ॐ ००० ००० ० ० ॐ ० ॐ० ००० ० ००।

अर्थात् प्रियवन चुड़ा रत्न मित्र सिंधो, कुमुदती वधु।

प्रहेलिका—ये प्रहेलिकाएँ हैं जिनके अनेकानेक भेद गान्धर्व में बताये गये हैं। कभी श्लोक के भीतर ही इनका जवाब होता है कभी बाहर। किसी किसी ने इसके दो भेद किये हैं—गद्दी और आर्थी। अनावश्यक समझ कर इनका यहाँ विस्तार नहीं किया गया।

उठे जसा कि विन्वाथ न साहित्यदपण म कहा है य रस के परिपथी हैं । फिर यमका अनुप्रासा और चित्र-काव्या की लम्बी सूचिया जो दण्डी आदि प्राचीन आलोचक-कारिका व ग्रन्थों में अनायास मिल जाती हैं क्या इतना महत्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका ? दण्डी भामह और मट्ट जैसे आचार्य क्या समझ नहीं सकते कि य गाँदा की भूलभुतियाँ काव्य की कोटि में नहीं आ सकती ? इसी तरह अन्य शास्त्रों में भी प्रश्न उठते हैं । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम थोड़ा और विचार कर लेने की जरूरत है । आगे हम इसी विचार का प्रस्ताव करते हैं ।

नित दिन सम्पूत व वच-वडे काव्य लिखे गये थे उन दिनों की सामाजिक स्थिति आज ही जसी नहीं थी । उन दिनों का महत्त्व क्या होता था यह जानना उस युग के काव्य प्रयत्नों का हम ठीक ठीक नहीं समझ सकते । सहृदयों की लक्ष्य करके ही ये काव्य लिखे गये थे । ये सहृदय अधिकतर गहर के रहने वाले या नागर थे । उन्हें खाम खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था और उनके मनोविज्ञान के साधना में काव्य चर्चा का एक महत्वपूर्ण स्थान था । उन दिनों किसी भी पुरुष को जो राज सभा और सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश करने की इच्छा रखता था, अपना कोई इन गोष्ठी चर्चाओं का उपयुक्त पात्र प्रमाणित करना पड़ता था । कादंबरी में वगम्पायन नामक पात्र का जो चाण्डाल-काया रक्षा गूढ़क के पास ले गईं तो उसका साथी व उमर पात्र में उन सभी गुणों का उल्लेख किया जो राज सभा में सम्प्रेषण की योग्यता प्रमाणित करते थे । उसने कहा था कि यह तोना सभी शास्त्रार्थों का जानता है राजनीति प्रयोग में कुशल है पुराण इतिहास की कथा कहने में निपुण है गान और वाईस धुनियों का जानकार है, काव्य, नाटक आख्यायिका आख्याना

१ विदितसक्तशास्त्राय राजनीतिप्रयोगकुशल पुराणनिहासकथासाप निपुण वेदिता गीतश्रुतीना काव्यनाटकाख्यायिकाख्यानकप्रभतीनामपरिमिताना मुभापितानामध्येता स्वयं च कर्ता, परिहासालापपेगल धोणावणमुरजादी नामसम आता नत्तप्रयोगदगननिपुण चित्रकर्मणि प्रवीण द्यूत-यापारे प्रगल्भ प्रणयकलहकूपितकामिनीप्रसात्तोपायचतुर गजतुरगपुरुषस्त्रीलक्षणमित्र सक्तभूतलरत्न भूतोय वगम्पायनोनाम गुरु ।—कादंबरी कथामुल

२ संगीत में सात स्वर, तीन ग्राम, ४८ नीस मूर्च्छनाएँ उनकास तान और वाईस श्रुतियाँ होती हैं—

सप्तस्वरराश्रयो ग्रामा मूर्च्छानिचक्रोन्निगति ।

ताना एकोनपचासद्वयधिका विगति श्रुति ॥

व्याप्ति अनकानेक सुभाषितों का पाठक और कर्ता है परिहासानाप म चतुर है
 धीणा वण् मुरज आनि बाधों का अनुवनीय श्रोता है, नत्त प्रयाग के म्पन म
 निपुण है चित्र कम म प्रवीण है दूत-व्यापार म प्रगल्भ है प्रणय-कन्ह म कोप
 की हुई मानवनी प्रिया को प्रमन करने म चतुर है और हाथी, घाटा पुरुष
 आर स्त्री क लक्षणा का जानकार है । इसी ग्रंथ म आग चनकर राजकुमार
 चद्रापीठ की गिता के प्रसंग म बताया गया है कि उह निम्नलिखित क्रियाएँ
 भिन्नभिन्न गई थीं—पद, वाक्य प्रमाण, धर्मशास्त्र राजनीति, धायाम विद्या
 चाप चक्र चम-कृपाण गवित होमर परम गण प्रमति हथियारा का चलाना रथ
 चर्या हस्तिपथ धीणा-वेणु-मुरज कास्य-ताल-दु रपुट प्रभति बाधा का बजाना
 भरतानि प्रणीत नत्त शास्त्र, नारद प्रणीत गाद्यव वत्, हस्ति गिशा घोड़े की
 उमर पहचानना, पुरुष लक्षण, चित्रा कम पत्रच्छेद्य, पुस्तक-व्यापार लेख्य कम
 ममन्त दूत कलाएँ पशिया की आवाज पहचानन की विद्या ग्रहगणित रत्न-
 परीक्षा दास्कम (बढ़ई का काम), हाथीनात का व्यवहार, वास्तु विद्या,
 आयुर्वेद मन्त्र प्रयाग विष दूर करना मुरगभेद तरना लोभना कूटना इद्रजाल
 क्या नाटक वाक्यायिका वाक्य महाभारत-पुराण इतिहास रामायण सभी
 विषया, सब दली भाषाएँ सभी सनाएँ या परिभाषाएँ सभी गिल्प छंद और
 अथाय कलाएँ । यह समझना भल होगा कि काव्य ग्रंथ म बताई गई य
 कलाएँ और उनकी गिता एक कवि-कल्पित व्यापार है । वाक्यायन का काम
 मूत्र निश्चित रूप स कवि की कल्पना नहीं है बल्कि वास्तविक परिस्थितियाँ
 का बताने वाला ग्रंथ है । इस ग्रंथ के अनुसार उन गिता के नागरिकों की जिन
 चौंसठ कलाओं का अभ्यास करना आवश्यक माना जाता था उनमें वाक्यायन
 और अथ सलित कलाओं का ज्ञान आवश्यक अंग है । वह नायक गुणवान माना
 जाता था जो विद्वान हो आस्थान-कुशल या अच्छी कहानी कहने वाला हो,
 वाग्मी हो विविध गिल्पों को जानने वाला हो उत्साह-परायण हो, त्यागी
 हो मित्र वत्सल हो, घटा-नाष्टी समाज आदि म हिस्सा लेने वाला और
 उनका संगठन करने वाला हो क्रीडनशील हो निरोग हो जिमका शरीर विकृत
 न हो प्राणवान हो और मद्यपान न करता हो ।^१ कामसूत्र की ६४

१ कादम्बरी प० १४७ १४६

२ विद्वान कविराख्यानकुशलो वाग्मी विविध गिल्पज्ञो महोत्साहस्त्यागो
 मित्रवत्सलो घटागोष्ठी प्रेक्षणकसमाजसमस्या क्रीडनशीलो नीरुजो यशशरीर
 प्राणवान मद्यप ।—कामसूत्र ६ १

कलाप्रा' म कई का मयप स- और मय मर्मा- काय म है।

दा चौतह कलाप्रा म लगभग एन तिहार्द तो थिपुड माहिय है वारा म कुछ तापक ताविरामा क विलास शोभा क महामर है कुछ माहिराम क साधन है और कुछ देता प्रयोजन क पूरक है। गाना बजाना नय निवहारी (मालेन्य) थिया क कपोन और लला- प्राप्ति की दाभा बड़ा मदन मान भोजपत्र क काटे हुए पत्रा की रचना करना (विशाल-प्रेम) क- पर विविध रग के पुण्या और रग हुए आवता स ताना प्रकार क नयनाभिराम त्रिज वाता (तदल तुमुम विकार) पून बिछाना दोन और यन्त्रा की रजिा करना पना की सज रचना दीत रगना यन्त्र रगना, धीप्मवाल म थोडा क लिय मरकत प्रादि पत्थरो का गज बनाना सज त्रिधाना जल शोभा म मुरज प्राप्ति बाजा बजाना शोभलपूयक प्रमसी क प्रति पानी क छाट फेंकना माला मूयना पना का पुण्या स राजाना दग और काल क अनुसार शरीर सजाना कान क लिय हाथीनीत क पत्तरा स आभरण बनाना मुगधित घृण दीप और वनिया का प्रयाग जानना गहना पहनाना इन्द्रजाल और हाथ की सफाई ताली प्राप्ति का सीना नाना प्रकार क भाय भोय बना सवना गरवत प्राप्ति तयार करना कुन प्राप्ति से प्राप्तन बना पना बीणा डमरु प्रादि बजा लेना इत्यादि कलाए उा त्रिना

१ शीतमयाद्यम नत्यममालयमविशेषकच्छेदयम तदुलकुसुमवतिविकारा पुष्पास्तरणम दगनयसनांगराग मणिभूमिकावम गयनरचनम उदकवादयम उदकाधात चित्राचयोगा मात्यप्रथम विकल्पा गोधरकापोडयोजनम नेपथ्यप्रयोगा कणपत्रभगा मधपुवित भूषणयोजनम ए द्रजाला कीचुभारादच योग हस्तलाघवम विचित्रगाक्यमक्षयविकारक्रिया पानकरसरगासव ग्राजनम सूचोवान कर्माणि सूत्रफ्रीडा श्रीडाडमरुकाद्यानि प्रहेलिका, प्रतिमाला दुर्वाचक्रयोगा पुस्तकवाचनम नाटकाद्यायिकादगनम काव्यसमस्यापूरणम पट्टिकावेप्रधानविकल्पा तक्षकर्माणि तक्षणम वास्तुविद्या रण्यरत्नपरीक्षा धातुवाद मणिरागाकरज्ञानम यक्षापुर्वेदयोगा मेपक्वकुटलावकपुद्धत्रिधि गुकसारिका प्रलापनम, उत्सादने सवाहने केशमदने च कीगलम, अक्षरमुष्टिका कथनम श्लेच्छितविकल्पा दशभाषाविज्ञानम पुष्पगवटिका निमित्तज्ञानम यत्रमातका धारणमातका सपाठयम मानसीकाव्यक्रीया अभिधान कीव छंदो ज्ञानम क्रियाकल्प छलितिकयोगा वस्त्रगोपनानि छतविशेषा आकषश्रीडा बालश्रीडनकानि धनयिकीना यजयिकीना व्यापामिकीवा च विद्याना ज्ञानम इति—कामसूत्र १ ३

नागरिका के लिए आवश्यक समझी जाती थी। इनसे अपना घर और शरीर तो सजाना अभीष्ट ही था अमल उद्देश्य प्रेमी और प्रेयसिया को सन्तुष्ट करना था। सस्कृत साहित्य में इन कलाश्रा का भूरि भूरि वर्णन मिलता है। किसी विलासिनी को इसलिये फूली हुई दखकर कि उसके प्रिय न अपने हाथों उसके कपोल-तन पर मनरी बना दी है कोई मुहासिनी फिर कस रही है—अजी और कोई भी ऐसी ही फूली फिर सजनी थी यदि कम्बख्त कपन ही दुस्मन न हा जाती^१ कही अभिमागिकाश्रा की जलप्राज्ञी से केना स गिरे हुए मन्दार पुष्पा काज स भ्रष्ट स्वर्ण कमल और पत्रच्छेद्या तथा वक्षस्थल पर से टूटकर गिरे हुए हार के मोतिया से कामिनिया का अभिसार माग सूर्योत्थ हात ही स्पष्ट ही सूचित हो जाना था,^२ कही सखिया द्वारा ललाट और कपोल देग पर रचित चदन पत्र-लखा ऐसी दिखाई देनी थी माना ईषत पाण्डुर और क्षाम कपोल भित्ति पर लगे हुए कामदेव के वाणा से जो घाव हा गया है उसी की पट्टी है^३ कहां जल थोड़ा के समय पानी के भीतर से वज्रता हुआ मदग—जो तीर पर चक्कर काटन वागे उत्कलाप मयूरा की केका से अभिनदित हाता रहता था—विलासिनिया के वान में प्रविष्ट हाकर उनके वान और कपोल लाल कर देता था^४, कही जलकेलि के समय खुल हुए केनापाग से स्वस्तित पद नखा और मुक्ता फला में विच्छिन्न पत्रवेष्टन इन दोनों अभावा के हीन

१ मागवमुद्गह कपोलतले चकास्ति

कातस्वहस्तलिखता मम भजरोति ।

अप्यापिकं न सखि भाजनमोदशाना

वरी न चेद भवति वेपथुरतराय ॥

२ गत्युत्कम्पादलकपतितयत्र मन्दारपुष्प

पत्रच्छेद्य कनककमल कणविभ्रगिनिच्च ।

मुक्ताजाल स्तनपरिचितवदनसूत्रश्च हार

नैवो माग सखितुरुदये सूच्यते कामिनानाम् ॥—मेघदूत ६८

३ अस्या ललाटे रचिता सखीभिर्विभाव्यते चन्दनपत्रलेखा ।

आपाण्डुरक्षामकपोलामत्तावनज्जवाणप्रकट्टिच्च ॥

४ तीरस्थलीमिव हिस्तकलाप प्रस्निग्धरुद्धरनिनदमानम् ।

थोत्रेषु समूच्यति श्वतमासां गीतानुपनन्दयद्गवाद्यम् ॥

हुए भी प्रसन्नता का येन प्रसिद्धा का मन हर सता था' कहा प्रसन्नता का
कथान देन पर पत्रावली घात का मरण करन भी प्रेमी हाथ कोन जान म
प्रसन्नता-याम हो जाना था' करी स्पष्ट मशायर सगात का प्रसन्नता-प्रसा
अपनी प्रसिद्धा का येन भूया का शायि-य मरण मरण हो उठा था' मोर श्री
प्रसार मोर जान क्या क्या व्यापार उा निना का शायि-य का मन प्रिय प्रिय
है कि उा निना सजात भगभर है ।

एन कलाका का गान इस सजा कला-गुनी म कुछ गद्यांगी कला' है जग
वास्तुविद्या या गह निमाण की कला' मध्य रत्न परी ॥ धातु विद्या कीमता
पत्थरा का रमना वक्षायुर्वेद या पेह पीथा का विमान हथियारा की पहचान
हाथी घोडा का संगण भाति । कुछ का सचय मनाविना' माय स या जग
भडा मोर मुर्गी की सहार' तोता मनी को गगना मत्याति । बाती विगुड
साहित्यिक थी । एन साहित्यिक कलाका म स अधिकांश को मनाविना' की
श्रणी म रत्न सक्त है ।

इन कलाका का प्रधान मात्रय अत पुर ये । पुरुषा की दुनिया म वास्त
विकता का कठोर आघात स रामास का कामल मोर मनारम वातावरण प्राय
क्षम्य हो जाता था । आज हूणा का तो कल यवना (= आमानियन-ग्रीक)
का आक्रमण नगर की शांति को विगुड कर जाया करता था परन्तु अन्त
पुर म विक्षाभ की लहरिया कम ही पहुचा करती थी । गनु और मित्र दोना

१ उद्धधकेगदचयुतपत्रलेखो विश्लिष्टमुक्ताफलपत्रवेष्ट ।

मनोजएवप्रमदामुखानामसोविहारकलितोपि धेय ॥

२ कपोले पत्रालो पुलकितविधातु ध्यवसित

स्वय थोराधाय करकलितवर्तिमधुरिषु

अमद वक्त-दो मनिहितनयन कम्पितभुज ।

तदेतत् सामर्थ्य तदभिनवरूपस्य जयति ।

३ स स्वय चरणरागमादध योयिता न च तथा समाहित ।

लोभ्यमान नयन इत्यथानुकर्मलतागुणपदनितविमि ।

—रघुव १६ २०

४ वराहमिहिर की बहुत सहिता से ऐसा बहुतरी कलाको की जानकारी
हो सकती है जैसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय) वक्षायुर्वेद (५५) वज्रलेप (५७)
कुषकुट लक्षण (६३ अ०) गद्यासन (७८ अध्याय) गद्यवृत्ति (७७ अध्याय),
रत्न परीक्षा (८० ८३ अ०), इत्यादि ।

ही उन निना अन्त पुर की शान्ति का सम्मान करते थे ।

साधारणतः संस्कृत-कवि का वणनीय अन्त पुर धनी और राजवर्गीय पुष्पा का ही होता था क्योंकि संस्कृत काव्य नाटक ग्रन्थायिका आदि के नायक और नायिकाएँ प्रख्यातवर्गीय धनाढ्य हुआ करती थी । इसीलिए संस्कृत का अन्त पुर का ठाट वाट बहुत ही विपुल और चित्ताकर्षक है । इन अन्त पुरों और इनमें रहने वाली अन्त पुरिकाया का वणन संस्कृत कवि बड़ी शान्त शौक्यता के साथ करता है । प्रत्यक्ष धनाढ्य नागरिक के घर के साथ उसका अन्त पुर रहा करता था, जहाँ बड़े बड़े पहर की व्यवस्था रहती थी । अन्त पुर से लगी हुई एक वन-वाटिका (या गृह उपवन) हुआ करती थी । इसके बीच में एक दाघिका या तालाब की व्यवस्था रहती थी । इस वाटिका में फलदार वनस्पतियाँ पुष्पा और लता कुँजों की भी व्यवस्था रहा करती थी । गृह-स्वामिनी अपनी रबनगाला के काम लायक तरकारियाँ भी इसी वाटिका के एक अंश में उत्पन्न कर लिया करती थी । वात्स्यायन के^१ कामसूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वह इस स्थान पर मूलक (मूली), आलूक (कंद आदि) पलकी (पालक), दमनक (दवना) आम्रातक (आमड़ा) एवांस्क (फूली) नपुष (खीरा), वार्त्ताक (वगन), कुष्माण्ड (सफ़ेद कुँभड़े), अलाबु (कन्दू) सूरण (सूरन), गुक्नासा (अगस्ता), स्वयगुप्ता (कवाड़) निलपणिका (गाक) अग्निमथ (?) लगुन, पलाण्डु (प्याज) आदि भाग भाजी होती थी । इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष आज से दो हजार वर्ष पहले जो साग भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं । इन साग भाजियों के साथ यमसात भी गृहदेवियाँ स्वयं तैयार कर लेती थी—जीरा सरसा जवायन सौंफ तजपात आदि । वाटिका के दूसरे भाग में कुँजक (= मालती ?) आमलक (?), मल्लिका (बला) जाती (मालती और भावप्रकाश के मत से चमली) कुरण्टक (कटसरैया) तबमालिका तगर, जपा आदि के पुष्पा के गुम भी लगाया करती थी (पृष्ठ ३२५) । वनवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड़ छायान्तर वृक्ष—जैसे अशोक अरिष्ट पुनाग शिरोष आदि लगाये जाते थे । वह संहिता (५५३) में बताया गया है कि ये वनस्पतियाँ मागन्य होती हैं इसलिये इनको घर या उद्यान के पूर्व भाग में रोपण करना चाहिए । उद्यान के प्राचा दीप गहनौघिका या तालाब रहा करता था । इन तालाबों में नाना

१ इस सूत्र में सबसे चौखटा सीरोज में छप हुए कामसूत्र की पृष्ठ संख्याएँ दी हुई हैं ।

प्रकार के जल-मयि या का रहना मगन-जाल मगमा जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से कमलिनो या तिली (पत्र-गुण महिष समान यथा) उत्पन्न की जाती थी। यगन्मिहिर १ पृष्ठमहिला (५६ ६७) में लिखा है कि जिन मगयार में तिलीना रूप छत्र में गूँथ लिये निरस्त होती हैं। इस के कारणों में धरती की सहरियाँ बहारा में टकराती हैं। इस कारण शीत और चन्द्रमासगण के निमित्त बरस रहते हैं और जिनके तटों की वन वा छाया में जननरी की विश्राम करते हैं। तब मगयार के तिली स्वतागत प्रसन्न भाव से विराजत हैं। इन यापिया में विविध पतिया के तियास का तात्त भक्ति से वसिया न वृत्त किया है। इन्हीं वाटिकाओं में वास्यामन न दिया है कि तपन छाया में प्रेष्ट रानोना या भला लगाया जाता था इन्हीं में पण्यर की स्थिति पीठिकाएँ (बटन के भागा) बनाए जाते थे (पृ० ४५)। भवन श्रीधिका के एक पात्र में श्रीहा-गवत हुआ करते थे जिनके द गिद मयूर में रात रहते थे। यही मल्ल पुरिवाएँ नाना भक्ति की विलास लीलाएँ करती थीं। श्रीधिका में और मयत्र धारायन या पथ्यार वन हान थे जिनमें कभी जलदेवता और कभी हस्त मिथन मयवा चक्रवाक मियुन के जोड़ वन हान थे जो जल धारा को उच्छवासित करते थे। मल्लवापुरी में मयदूत की मणिणी के मत्त पुर में एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्ष प्रिया न एक छोटे से मदार वक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ की पहुँच के भीतर ही थे—पुत्रवत पाल रखा था।^१ इस उद्यान में मरकत मणिया की सीढ़ी वाली एक बापी थी, जिसमें वदूयमणि के वन हुए नाना पर हम-पक्ष प्रस्फटित हो रहे थे और हम विचरण कर रहे थे^२। इसी बापी के तीर पर

१ सर सुनलिनोच्छ्रम निरस्त रविरश्मिषु ।

हस्ताक्षिप्त कहलार बोची विमल धारिषु ॥

हस्त कारण्डव क्रौंच चक्रवाक विराधिषु ।

पयत निचुलच्छाया विश्रान्त जलचारिषु ॥

२ तत्रागार धनपतिगहादुत्तरेणस्मदीय ।

दूरारलक्ष्य त्वदमरघनुश्चारुणातोरणेन ।

यस्योद्याने कृतकतनयो वर्धित फातया मे

हस्तप्राप्पस्तवकनमितो बालमदारवक्ष ॥ ८० ॥

३ बापी चास्मिन् मरकतगिलावद्धसोपानमार्गा

हेम स्फीता विक्चकमलदीधिवदूयनाल ।

यस्यास्तोमे कृतवसतयो मानस सनिकृष्ट

नारध्यास्यति व्यपगतगुचस्तत्वामपि प्राप्य हस्ता ॥ ८१ ॥

एक श्रीगन्धर्व था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और वनक-वन्तली से प्रसिद्ध था। वाटिका के मध्यभाग में रक्त-अर्गाव और वकुल के वृक्ष थे, एक प्रिया के पदाघात में और दूसरा वृक्ष मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था^१। इनका बड़ा कुरवक या पियावसाकी भांडिया का था। ठीक बीच में एक सान की वाम-गर्भ पर स्फटिक की पीढ़ी थी जिस पर यक्ष प्रिया का वह मयूर बैठा करता था जिस वह अपनी चूड़िया की मञ्जु ध्वनि से नचाया करता थी।^२ वहुत भीतर जान पर यक्ष प्रिया के गणन-कर्म के पास पिंजड़े में मधुरभाषिणी मारिका थी जिससे यन्त्र-यन्त्र वह अपने प्रिय के विषय में पूछा करती थी।^३ वाणभट्ट की कान्धारी में अन्न पुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जाद्वन वणन है। उस वणन से जान पड़ता है कि कादम्बरी की विविध परिचारिकाएँ किन कार्यों में व्यस्त थी। वस्तुतः समस्त संस्कृत साहित्य में अन्न-पुर वणन के प्रसंग में इन वाना का अत्याधिक विस्तार रहता है। अन्न पुर के सबसे भीतरी हिस्से में कोई लवलीका केतकी (कवड) की धूलि से ढवली (हरफारेवरी) के आलवाना का सजा रही थी। कोई सागरिनी गन्ध-जल की वापिया में रत्न-वालुका निक्षेप कर रही थी। कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियो के यन्त्र चक्रवाक के ऊपर कुकुम रणु फैक रही थी। कोई मक्खिका कपूर पल्लव के रस से गन्ध-पात्रा को सुवासित कर रही थी। कोई रत्निका तमाल बीथिका के अधिकार में मणि प्रदीपा को रख रही थी। कोई कुमुदिका पत्तियों के निवारण के लिए दाढ़िमी फला का मुक्ताजाल से अवरोध कर रही थी। कोई निपुणिका मणि की पुतलियों के वक्ष स्थल पर कुकुम रस से चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका वन्तली गन्ध की मरकत वदिकाया का सोने की समाजनी (भांड) से साफ कर

१ रक्तानोकदचल किसलय केसरचित्र कात
प्रत्यासन्नो कुरवक चतेर्माधिवीमण्डपस्य ।
एक सह्यास्तव सह मया वामपादामिलायी
काभत्ययो धदनमदिरा दोहृदच्छन्नास्या ॥८६॥

२ तमध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीवास यटि
मूले बद्धा मणिमिरनति प्रौढ वन प्रकाश ।
तान पिञ्जद्वलय सुभग कातया नतितो मे
यामध्यास्ते निवस विगमे नीलकण्ठ मुहूर्द व

३ पच्छती वा मधुरवचना सारिका पजरस्या
क्वचिदमतु स्मरसि रसिके त्व हि तस्यप्रयेति

रही थी, कोई नगरिका यशुन कुमुम माला गृहा को मन्त्रिण रम म गान रही थी और कोई मानरिका कामनेत्र गृह का हाथानेता की चन्त्रिणा (मण्डप) को तिरुन रेणु स पाटलि नर रही थी। य गारी बान लगी है जिनका मय त्रिद्वि लगी धारिया की समक म गहा भा गता। इस बान धारि पाड नर दगत हैं कि मयमनियया व छते म भी अधिर दग्धन निगनवान इग मन पुर व व्यापारा का मय क्या है ? गर कुछ समक म मन लायक बान भी हैं। वहाँ कोई नलिनिका भवन के बान हगा का कमन मधुरम पान करान जा रही थी। कोई कलिरा मयूरा को धारा गृह या पन्नारा के पास ल जा रही थी—गायद नवान के लिए।—कोई कमन्त्रिणा चन्त्राव गावका को मणाल क्षीर रस दे रही थी, कोई कोविला को माघमजरी का अकुर पिनान म लगी थी। कोई पल्लविका मरिच (वाली मिच) के कोमल विसलया को चुन चुन गर भवन हारीता को खिला रही थी। कोई लवणिका चकारा व पिजडा म पिप्पली के मुलायम पत्त निक्षप कर रही थी। कोई मधुरिका पुष्पा के आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा मन पुर पतिया की सेवा म व्यस्त था। समय भीतर वचनमुखरा सारिका (मता) थी और विदग्ध गुरु था। जिनक प्रणय कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी और चद्रापीड के सामने अपना वदग्ध विलास प्रकट करके जिस सारिका न कादम्बरी के अधरा पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी।^१

प्राचीन भारत का यह अत पुर धस्तुत सब प्रकार की सुकुमार कलाभा का घर था। मद्यपि साधारण श्रणी व नागरिकी व अत पुर या वहि प्रकोष्ठ उत्तन समद्वियुक्त नही हुआ करत होगे जितने साधारणन उस युग के राज भवना के धनन प्रमग म मिल जाते है पर इसम सन्देह नही कि कला और विद्या क आनय स्थान ऐमे ही रईस थे। मच्छकणिक नाटक म एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अधपूर्ण है। इस नाटक के नायक चारुदत्त का एक पुगना नौकर सवाहक था जिमने सवाहक कला अर्थात् गरीर और वेग भूषा को सुशुचि पूण ढङ्ग से सजा का कौशल सीखा था। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही सवाहक चारुदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोडकर अय व्यसन म लग गया था। एक बार चारुदत्त की प्रमिका गणिका वसन्तसेना के यह कहने पर कि तुमन सुकुमार कला साखी है उसने प्रतिवाद करके कहा— नहा आर्ये

१ कादम्बरी प० ३३५ और आगे। इस लेख मे सद्य निणय सागर प्रेस (छठवें संस्करण १९२१) की कादम्बरी से उद्धरण दिए गए हैं।

नागरक के बठक घर में माफिर उस नाटयाचाय के गृह में जिनने कला को ग्राजी विकाशना लिया हो । चोर ने घर की दगा से यह अनुमान सहज ही कर लिया था कि धनी आदमी का घर तो यह होने से रहा ।

वीणा और चित्रपलक ये दो वस्तुएँ उन दिनों के सहृदय के लिये निम्नतम आवश्यक वस्तु थी । चास्ता ने ठीक ही कहा था कि वीणा जा है वह असमुद्रोत्पन्न रत्न है उत्कृष्ट की सगिनी है उक्ताय हुए का चिनोत् है विरही का दान्त है और प्रेमी का रागवद्धक प्रमोद है । प्राचीन काव्य साहित्य में इसकी इतनी चर्चा है कि सबका समग्र करना बड़ा कठिन कार्य है । सरस्वती भवन से लेकर कामदेवायतन तक अतः पुर के विलासमय जीवन से लेकर आच्छो सरोवर के शिवायतन वाली तपोभूमि तक नागरक के बहिर्निवास से लेकर उद्यानयात्रा की धनभूमि तक—सबसे वीणा उन दिनों के नागर रसिकों की सगिनी थी । संस्कृत का कवि सौंदर्य और चास्ता की बात याद करते ही पहले वीणा की बात याद करता है । कामसूत्र से जान पड़ता है कि उन दिनों की गंधर्वालाओं में प्रत्येक नागरक के लड़का को जिन कलाओं का सीखना जरूरी था उनमें सबसे प्रधान है—गीत वाद्य और नृत्य । इस वाद्य में वीणा और डमरू तथा वशी का उल्लेख है । डमरू भारतवर्ष का अत्यंत प्राचीन वाद्य है और कहते हैं कालक्रम से उसी ने मदग का आकार ग्रहण किया है । इस मदग के विषय में सर सी० वी० रमन जैसे छोटी के बच्चानिक का कहना है कि यह मसार का सबसे श्रेष्ठ बच्चानिक ढा से बना हुआ वाद्य है । ललित विस्तर में वीणा और वाद्य-नृत्य को उन ८६ कलाओं में गिना गया है जिनका ज्ञान सिद्धांत को था । वीणा के साथ ही एक और वाद्य वणु या वशी का भी कामसूत्रान्ति ग्रंथ में बारंबार उल्लेख है । यह वाजा भी नागरकों को बहुत प्रिय था । यहाँ हम नृत्य गीत नाट्य आदि का विस्तृत उल्लेख नहीं करेंगे ।

दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण मनोविनोद चित्रकर्म था । कला की गणना में इसका प्रमुख स्थान है । विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्र-कला श्रेष्ठ है । वह धर्म अथ काम और मोक्ष को

१ वीणाहि असमुद्रोत्पन्न रत्नम्—

उत्कृष्टितस्य हृदयानुगुणा वयस्या सकेतके चिरयति प्रवरो विनोद

सस्यापना प्रियतमा विरहातुराणा रत्तस्य रागपरिवृद्धिकर प्रमोद ॥

एक प्रकार की घोर भाविधि दी हुई है जो गव समग्र ठाक-जीत समग्र म नी घाति । नर ऊपर तिन मनाय जात थ ।

तिया म कई प्रकार क रग काम म लाय जात थ । पन चीन की नविना के प्राग ताप का मूच्यम धनु मगा । प जा नी नर भातर घोर दतना हा घातर रना था । इस ति दुक रना थ । तूतिना म यतड क का क गाम म रात मगाय जात थे घोर तिन की रगाभा क तिम माम घोर भात म काजल रगत पर काता रग बगात थ । वगनानो क प्राग मग हुए ताघनाहु श मनीन रगा मीता का गाय तिया जाता था । रोपे वाना उगना तान प्रकार का हाती थी—म्यून मध्य घोर मूम । कना म तपन का काय रना था इमगी म मय भाग घोर पाय भाग की रगाएँ मीची जानी था घोर तागना म मूम रगाएँ बार्ता जती था । तिन कवन रगाभा क भा हात थ घोर रगाभा म रग भर त भी बनाव जात थ । जिमना साय मयगत कहत है उता भी ध्यान रगा जाता था । एकरग चित्रो म रनना विगय उपपात होता था । अभिनविताधचित्तमणि (३१६२) म कय गया है ति जा स्थान निम्नार नी वनी एकरग चित्र म श्यामन यण हाता चात्ति घोर जा स्थान उग्रन हा यह उज्ज्वल या पीक रग था । रगीत चित्रो म नाना प्रकार क रगा का विप्राय करत थ । वत रग गव की चण करक बनाया जात था गण दर म रन (नाल) मलानर स लाहिन गरू से पीत हरितान स घोर काना काजल से बनता था । इनर प्रापम म मिलने से तथा मय रगा क मिथण म भिन्न रग बनत थे । ये मिथ रग कमल सौराद्व(?) धोगत्व(?) धूमच्छाय कपोताभ मयसी पुष्पाभ नीलकमल समान, हरित गौर श्याम पाटल कवर आदि बहुतरे रग के बनते थे ।

पर या कपडे पर भी चित्र बनाये जात थे । पचदशी नामक वेदात प्रथ से जाना जाता है कि ऐसे चित्र चार अवस्थाम्रा से गुजरत थे—घीत घटित लाछित और रजित । कपडे का धोया हुआ रूप घीत है उस पर चावल आदि क माट से घाटाई मण्डित है फिर काजल आदि की सहायता से रेखाकन लाछित है और उत्तम रग भरना रजित अवस्था है (प० ६१३) ।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण म एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह है कि नृत्य और चित्र का बडा गहरा सम्बन्ध है । माकण्डय मुनि न कहा था कि नृत्य और चित्र इन दोनों हा कलाभ्रा म नलाय्य की अनुवृत्ति होती है । महानृत्य म दष्टि हाथ भाव आदि की जो भगी बताई गई है वही चित्र म भी प्रयोय है

स्तुत नृत्य ही परम चित्र है ।^१

सौमेश्वर का अभिनयितायचिन्तामणि म चार प्रकार के चित्रों का उल्लेख है—विद्ध चित्र जो इतना अधिक वास्तविक वस्तु से मिलता हो कि दर्शक में पूरी परछाई जमा पड़ता हो अविद्ध चित्र जो काल्पनिक होते थे और चित्रकार के भावोल्लास की उमंग में बनाये जाते थे रस चित्र, जो भिन्न भिन्न रसों की अभिव्यक्ति के लिये बनाये जाते थे, और धूलि चित्र । इस ग्रंथ में चित्र में माने के उपयोग की भी विधि दी हुई है ।

शास्त्रीय ग्रंथों के देखने से जान पड़ता है कि उन दिनों चित्र के विषय अनेक थे । कवन शृङ्गार चेष्टा या धर्माख्यान ही तक उनकी सीमा नहीं थी । धार्मिक और ऐतिहासिक आर्याणा के अब लगे पड़ उन दिनों बहुत प्रचलित थे । कामसूत्र में ऐसे आख्यानक पटों (पृ० २६७) का उल्लेख है और मुद्राराक्षस नाटक में यम पटों की कहानी है । देवता असुर राक्षस नाग यक्ष, चित्रर, यक्ष लता, पशु पक्षी सब कुछ चित्र के विषय थे । इनकी लम्बाई चौड़ाई आदि किसी हौनी चाँगा, नन विषया का शास्त्र ग्रंथा में विशेष रूप से उल्लेख है ।

सम्प्रान्त परिवार के अतः पुर की देवियों में चित्र विद्या का कसा प्रचार था, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कामसूत्र में लडकियों के लिये जो उपहार अत्यंत आवश्यक हो सकते हैं उनकी सूची में एक पटोलिका का मुख्य स्थान है । इस पटोलिका में अलकतक (महावर), मनसिला (मनसिल) हस्ताल हिगुल और श्याम वणक (राजावतक का चूण ?) रखा करते थे । हमने पहले ही देखा है कि इन पदार्थों से शुद्ध और मिश्र रंग बनाने का काम लिया जाता था । सस्त्रुत नाटकों में गायक ही कोई ऐसा था, त्रिगम प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ़ विरह वेदना को प्रिय के चित्र बनाकर न प्रकट करती हो । मृच्छकटिक की गणिका वसतसेना चाण्डाल का चित्र बनानी है, शकुंतला नाटक का नायक दुष्यन्त विरही होकर प्रियतमा का चित्र बनाकर मन बहलाता है रत्नावली में तो चित्रफलक ही नाट्य कला का शीघ्र और

१ यथा नृत्ये तथा चित्रे प्रतीक्यस्यानुकृति स्मृता ।

दृष्टयश्च तथा भाषा अगोपागानि भवन् ॥

कराच ये महानृत्ये पूर्वोक्ता नपगतम् ।

त एव नृत्ये विज्ञेया नृत्य चित्र पर स्मृतम् ॥

चित्रविद् कहना चाहत है^१ ।

गसा जान पड़ता है कि सिद्ध सिन्हा व चित्रण में उन सिन्हा पूरी मरम्मत मिली थी । राजा और रानिया की पुराने प्रमाण प्रतित्वि उन सिन्हा निरामित रूप से राज घराना में गुप्तित रहती थी । हृष चित्र में जान पड़ता है कि श्राद्ध के बाद पहला काम होना था मत ध्यति का प्रालम्ब बनाना । यद्यपि मन्त्र पुर और ममूद नागरका व यहिनिवात ग ही कला का प्रथित उत्तम मिलता है तथापि साधारण जनता में भी इस कला का प्रचार रहा होगा । ससृष्ट नाटका और नाटिकाया में परिधारिकाया को प्रायः चित्र बनाने अतिन किया गया है । प्राचीन प्रयोगों से इस बात का समूत भा मिल जाता है कि उन सिन्हा स्वयं ताग प्रपना चित्र भी बनाते थे । भारतवर्ष में उस काल में हम विद्या में जो धरम उत्कृष्ट प्राप्त किया था उसका ज्वलन्त प्रमाण प्रजता और बंसूर मानि की गुफाएँ हैं ।

१ तरगाग्निशिखाधूमवज्रमत्यम्बरादिकम् ।

वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेय सतु चित्रवित्

मुप्त च चेतनायुक्त मृत चेतनवर्जितम्

निम्नोन्नतविभाग च य करोति स चित्रवित् ॥

लोकभाषा में सांस्कृतिक इतिहास की भूली कड़ियाँ

हिंदी आर्यभाषा है। वह जिन प्रदेशों में आज साहित्यभाषा के रूप में स्वीकृत गयी है उनमें कभी अपने पुराने अपभ्रंश या प्राकृत रूपों में बोली जाती थी। परन्तु उसके भी पहले— बहुत पहले—इन स्थानों में आर्येतर जातियाँ बसती थी। उनकी भाषा आर्यभाषा नहीं थी। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूत हुए युग में बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों यथा नागों, राक्षसों आदि के साथ आर्य-जाति के संघर्ष की कहानियाँ हमारे पुराणों में भरी पड़ी हैं। उड़ भगडकर ये जातियाँ धीरे धीरे एक दूसरे के निकट भी आती गयीं। उन्होंने धीरे धीरे आर्यभाषा और आर्य विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आर्यभाषा ऊपर-ऊपर से आर्य बनी रहने पर उनकी भाषाओं से प्रभावित होती रही। उनका विश्वास न हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति-नीति का ही नहीं, हमारी नानि-परम्परा को भी प्रभावित किया। जैसे जैसे वे आर्यभाषा सीखती गयी वैसे वैसे उन्होंने आर्यों की परम्परागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्यभाषी ता हो गया पर आर्यभाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें ज्यों-ज्यों रह गये। यह ठीक है कि कुछ जातियाँ न जल्दी आर्य भाषा सीखी कुछ ने थोड़ी देर से और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसा दुर्गम जगहों में जा बसी कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्तन उनमें भी हुआ है पर परिवर्तन तो जगत का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि विजयनामिका द्वारा प्रवर्तित सत्रहवें प्रथम सत्रह वर्षों तक यह उदयन पुष्पन चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्द से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत

प्रायः पूर्ण रूप में आध्याभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण ग्रंथों से हम इन आर्योत्तर जातियों की सम्यक्ता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं। आभास इसलिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तथापि ब्राह्मण दृष्टि से—लिखे गए हैं और फिर बहुत पुरानी बातें होने के कारण इन बातों में कल्पना का जश भी मिल गया है। बौद्ध और जन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं को मिलान से कुछ कुछ बातें समझ में आ जाती हैं पर यह तो हम भूल ही नहीं सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विनाश दृष्टि से देखी हुई हैं।

परन्तु आज से कोई दस बारह सौ वर्ष पहले जब उत्तर भारत की सभी मानव मंडलियाँ आध्याभाषा भाषी हो गयीं तो उन्होंने अपनी बात आध्याभाषाभाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। उनकी बात तत्कालीन लोकभाषा में थी परन्तु दुर्भाग्यवश उनका बहुत कम अंश हमारे पास तक आ सका है। देशी भाषाओं के साहित्य में लोक कथाओं में कहावतों में किंवदंतियों में और अनेक प्रकार के पारिभाषिक शब्दों में उस महान उथल-पुथल और सांस्कृतिक मिलन की कहानी प्रच्छन्न रूप से बहती चली आयी है। इस दृष्टि से हमारी देशी भाषाओं का साहित्य—लिखित और अनिखित—बहुत सी ऐसी बातों को बता सकता है जो उनकी वर्तमान परिधि और जन्मकाल से बाहर की हैं और इस प्रकार उनके अध्ययन से हम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को समझने की कुंजी पा सकते हैं। दुर्भाग्यवश अब तक उनको इस मामले में उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना उन्हें मिलना चाहिए था। हम यह दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यद्यपि हमारे पास अध्ययन की बहुत कम सामग्री है तथापि देशी भाषा के साहित्य में ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण इंगारे हम मिल जाते हैं जिससे हम अपनी पुरानी संस्कृति के इतिहास का समझने का सूत्र पा जाते हैं। हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्राचीन सीमाओं से बंधा नहीं है। आपको अगर हिंदी-साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्या—बंगला, मराठी, उड़िया, गुजराती, प्रांथि के पुराने साहित्य—को जान बिना घाट में रहेंगे। यही बात बंगला, मराठी, उड़िया, प्रांथि साहित्या के बारे में भी ठीक है। हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास हम मजबूती के साथ अद्ययुग काल विधाता के हाथों से दिया गया है कि उस प्रांथिक सीमाओं में बाधकर मोचा भी नहीं जा सकता। उसका एक टुकड़ा यन्त्रिका में दीया गया तो दूसरा बंगाल में और तीसरा उड़ीसा में दाँप जायगा और चौथा यन्त्रि मलाबार में या सिन्धु में दीया जाय तो कुछ भी आश्चर्य करने की बात नहीं रहेगी।

हिंदी साहित्य का इतिहास संस्कृत संपादक और सीमापथ से प्राप्त हो गयी

पुस्तक का आधार पर नहीं लिखा जा सकता। प्राचीन हिन्दी का साहित्य रम-
नाहित्य नहीं है। जो रम साहित्य कहा जा सकता है वह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।
उसका सभ्य गुण यह है कि उससे हम बहुत दिना व उपेक्षित और अपरिचित
मनुष्य का पहचान सकते हैं और मरीदष्टि में यह बहुत बड़ी बात है। जो साहित्य
मनुष्य को उसकी समस्त आत्मा आकाशाग्रो के साथ उसकी सभी सवनाया और
दुवनाया के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष ल आकर खड़ा कर देता है वही महान्
साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है बाकी सभी वानें गौण हैं। अलवार छंद रस का
अभ्युपगम इस मनुष्य का समझने के लिए ही किया जाता है वे अपने आप में चरम
मान नहीं हैं। मनुष्य का—अर्थात् पशु सुलभ वासनाओं से उपरले स्तर के उभ
प्राणी के—जो त्याग प्रेम समय और श्रद्धा का छोनाभपटो मारामारी लोलुपता
और घणाद्वेष से बड़ा मानता है—अपने लक्ष्य की ओर ल जाता ही साहित्य
का मुख्य उद्देश्य है। अपर पुरान साहित्य में हम इस मनुष्य के आगे बढ़ने के
लिए किय गये सघर्षों को, अनुभूतिया को और विजय पराजय को समझने के
अनेक इंगार पाते हैं। कबीरदास का बीजक गारलपथी अनुभूतियाँ निरजनिपा
के छिटक फुटक मिले हुए पद हम एक भूली हुई दुनिया के सामने लाकर खड़ा
कर देते हैं रम आश्चर्य से एक सम्पूर्ण अभिनव जगत का दर्शन करते हैं जो
अपूर्व है। पर ये इंगारे ही भर हैं। हम पुराने नये और पार्श्ववर्ती साहित्या
में इस इंगारे का महत्व समझ सकते हैं। इस अपूर्व जगत की जातकारी के
बिना हमारा साहित्यिक इतिहास अधूरा रह जाता है। हमारे लगी भाषाया
का साहित्य की उपेक्षा करके हमने अब तक अपना सम्पूर्ण इतिहास ही अधकचरा
बना रखा है।

रमबी गताली के आसपास एक विविष्ट मनावलि का प्राधाय भारतीय
धर्म साधना का क्षेत्र में स्थापित होता है यद्यपि वह नहीं नहीं है। कम स-कम
विक्रम की छठी गताली से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण
मिलता है। विराधी मना का प्रवृत्तिक बहकर हय सिद्ध करना इस प्रवृत्ति
का प्रधान स्वरूप है। छठी से लेकर रमबी गताली तक का भारतीय साहित्य
बहुत विनाल है तो भी धर्म साधना का इतिहास की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं
कहा जा सकता। अधिकांश में हम साम्प्रदायिक ग्रंथों पर निर्भर करता
पता है। यह उ लेख-याग्य है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपने ग्रंथ नहीं छोड़
गये हैं। कुछ ने तो गायत्रि ग्रंथ लिखा ही नहीं और कुछ ने अगर लिखा तो
तो वह प्राप्त नहीं हो सका। पुरानी पुस्तकों में इन सम्प्रदायों का कुछ-कुछ
जुड़ने मिल जाता है। पर इन उ गता से उनका कोई विशेष परिचय नहीं

मिलता । बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में ब्राह्मण ग्रंथां से जो कुछ पता चलता है वह केवल अपूर्ण ही नहीं भ्रामक भी है । सीमाश्रयक अथ बौद्धों के एक बड़ा सम्प्रदाय स्थविरवाद का पूरा साहित्य—जो लगभग तीन महाभारत के बराबर है—प्राप्त हो गया है । अश्वघोष सम्प्रदाय के ग्रंथ भी थोड़े बहुत मिल गये हैं और चीनी तथा तिब्बती भाषा में अनेक ग्रंथ अनूचित ग्रंथों में सुरक्षित हैं । विद्वान् लोग नये सिरे से इन ग्रंथों को धीरे धीरे प्रकाश में लाने का प्रयत्न करते हैं । ब्राह्मण ग्रंथां में उच्छेद, विनाश या अभाववाद को ही मुख्य बौद्ध सिद्धांत मानकर उसका खंडन किया गया है । यदि बौद्ध साहित्य का प्रत्यक्ष देश से उद्धार न हो सकता तो हमें बौद्ध दर्शन की महिमा का कुछ भी पता न चल पाता । सबदर्शन संग्रह में वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धों के नामकरण का रहस्य यह बताया गया है कि ये लोग विभाषा यानी गडबड भाषा के बोलने वाले या बसिर-पर की हाकने वाले बकवादी हैं । लेकिन असली रहस्य यह नहीं है । भला कोई सम्प्रदाय अपने को बकवादी क्या कहेगा ? असल में विभाषा शास्त्र का अर्थ है विशिष्ट भाष्य । यह विशिष्ट भाष्य चीनी भाषा में आज भी सुरक्षित है । संस्कृत में इस मत का प्रतिपादक ग्रंथ अभिधम्मकोश उपलब्ध हुआ है । इस ग्रंथ का पहले पहल चीनी भाषा की टीका के आधार पर फ्रांसीसी में उल्था किया गया था । इस सामग्री के आधार पर महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसके मूल के उद्धार का प्रयत्न किया है और एक संस्कृत टीका भी अपनी ओर से जोड़कर इसे बोधगम्य बना दिया है । यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ अनाप गनाप बोलने वालों की कति तो है ही नहीं बहुत से आस्तिक माने जाने वाले आचार्यों की पुस्तक से अधिक युक्तिमग्न और मननीय है ।

महामति शंकराचार्य ने न्यायवाद का सर्वप्रमाण विप्रतिपिद्ध कहकर उपभाषा योग्य ही माना था । कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य न भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातों का उसी प्रकार अप्राप्त बताया था जिस प्रकार कुत्ते का गाल मरखा हुआ दूध अमध्य (स्वतन्त्रनिमित्त और वस्तुन्युपयोगि) होकर अनुपयोगी हो जाता है । इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं । वस्तुतः बड़े से बड़े आचार्य के खरना को देखकर भी विरोधी सम्प्रदाय के विषय में कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती । बौद्धधर्म तो फिर भी सीमाश्रयक जातिगत मत है और उसके साहित्य के उपलब्ध हो जाने से उसके विषय में ठाक-ठाक धारणा बना ली जा सकती है । परंतु हम बहुत-से सम्प्रदाय हैं जिनका नाम तो किसी जीवन परम्परा का पता चलता है और न जिनका कोई साहित्य हा पाया जा सके है । विरोधी मत वाला न उनका माटा-बहुत बिकन परिचय दिया है

परन्तु ऊपर के उदाहरणों को देखकर जान पड़ता है कि इन विकृत परिचयों का आधार पर हम विशेष अप्रमत्त नहीं हो सकते।

चरपटी नाथ के नाम में चलनेवाले और निरजनिया के सग्रहा में अलग-अलग कुछ पद मिलते हैं जिनमें नाना सम्प्रदायों का उल्लेख है। उनमें 'नीलपटा' सम्प्रदाय की भी चर्चा है। इसे अष्टपटा में बनाया गया है। इन पदों की भाषा आधुनिक है पर वक्तव्य भी नया ही ऐसा नहीं है।

एक श्वेत जटा एक पीतपटा। एक तिलक जनेऊ लब जटा।

इक नीलपटा मत अष्टपटा। भ्रमजाल जटा मच हट्ट अटा।

क्या इस अलग और उपेक्षित माना जाय? पुरातन प्रबन्ध-संग्रह नामक जन-प्रबन्ध में भी इन दशानियों की चर्चा है। इनकी साधना पद्धति के विषय में जितना कुछ कहा गया है उससे लगता है कि ये लोग अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक घम का प्रचार करते थे। 'खाओ पिओ और भोज करो यही उनका आदेश था। पुरुष और स्त्री के जोड़े नग्न होकर एक ही नील वस्त्र में लिपट रहते थे। एस ही एक जोड़े से राजा भोज की क्या न घमविषयक प्रदर्शन किया था जिस पर 'दशनी ने उस वामलोचना को उपदेश दिया कि 'खाओ, पिओ और भोज करो। जो जीत गया सो कमी नहीं लौट सकता। अगर तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए बिल्कुल बकार है क्योंकि वह जा गया सा गया। असल बात यह है कि यह तरीका सिर्फ जड़ तत्वों का सघात मात्र है इसमें आगे कुछ भी नहीं है।

पिब खाद च वामलोचने यदतीत वरगात्रि तन ते।

नहि मोह गत निवर्तते समुद्रयमात्रदिद कलेवरम् ॥'

राजा भोज को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इस सम्प्रदाय का उच्छेद कर दिया। खोज खोजकर नीलपटों के सभी जोड़े हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दिया गया। भारतीय साहित्य में इन नीलपटों की कोई चर्चा नहीं आती। इस विवरण से तो इनके प्रति घणा हो उत्पन्न होती है। मौभाग्यवश इस सम्प्रदाय के एक और भी विवरण का सिंहल के निकाय-संग्रह से राहुल सांकृत्यायन ने उद्धार किया है। यह कहानी राजा भोज के कुछ ही पहले की है। कहा गया है कि राजा मत्त-बल-सेन के समय, जिनका राज्यकाल सन ८६६-८६६ ई० है, बज्रपवन निकाय का एक भिक्षु सिंहल में आया और वीरगुरु विहार में रहने लगा। उसके प्रभाव में आकर राजा ने वाजिरिय

(वज्रयान) मत को स्वीकार किया। इसी से लका म रत्नकूट आदि ग्रन्थों का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बाद के राजा न यद्यपि वाजिरिय के बारे में कुछ कवाई दिखायी पर इन सिद्धांतों के गोप्य रहने के कारण वे बचे ही रहें। राहुल जी का कहना है कि तिब्बत के रंगीन चित्रों में आतिशा (दीपकर श्रीमान) आदि भारतीय भिक्षुओं के चित्रों के नीचे जा नील रंग की एक जाकेट जैसी चीज लिखी है उसका कारण निकाय संग्रह में इस प्रकार दिया हुआ है—जिस समय कुमारदास सिंहल में राज कर रहे थे उन्हीं दिनों दक्षिण मधुग म श्रीहृष नामक राजा का राज्य था। उस समय सम्मतीय निकाय का एक दुर्गोल भिक्षु नीला वस्त्र धारण करके रात को वेश्या के घर गया। उसके प्रातः काल लौटने में देर हो गयी। जब बिहार के शिष्यों ने उसके वस्त्र का कारण पूछा तो उसने उस नील वस्त्र की बड़ी महिमा बतायी। तभी से उसके लिख्य नील वस्त्र का व्यवहार करने लग। नीलपट दशन में कहा गया है कि वेश्या सुरा और काम ये तीन ही वास्तविक रत्न हैं बाकी सब काँच के टुकड़े हैं। स्पष्ट ही नीलपट दश नियों का जो मत पुरातन प्रवचन में उद्धृत किया गया है वह इसी से मिलता जुलता है। परन्तु यदि राहुलजी के वक्तव्य को ध्यान में देखा जाय तो मालूम होगा कि इन लोगों का सम्बन्ध वज्रयानियों से था। यह ध्यान देने की बात है कि सम्मतीय निकाय के जिन भिक्षुओं की उपर चर्चा आयी है उनका महायान मत की स्थापना में बड़ा हाथ रहा है। यह नीलपट सम्प्रदाय यदि वज्रयान में सम्बद्ध था ना निश्चय ही बड़ा शक्तिशाली था और उसका साहित्य बिलकुल खोया हुआ नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही यदि जन प्रवचन का विवरण ही हमारे सामने होता तो उस मत के विषय में बहुत ज़ात धारणा बनी रहती। एम ग्रनर सम्प्रदाय है जो गरुड ढग से उपस्थापित हैं। कितनों ही का तो नाम भी नहीं बचा होगा।

कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के चारह पाँचों में से प्रायः सभी जीवित हैं पर जहाँ तक लखनऊ की बात है एम दा का छात्रवर बाकी पाँचों का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गहम्यों में अपने प्रविष्टानों के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई हैं। किन्ना किता के स्थापित मठ और मन्दिर बनमान हैं उनमें कुछ विषय तन्त्र के अनुष्ठान हैं। इन तीनों कथाओं और अनुष्ठानों के अन्तर में इन सम्प्रदायों का विषयना का कुछ पता

चल जाता है। इतना ही नहीं कभी कभी तो इन अनुष्ठानों और लोक-कथाओं पर से उन पूर्ववर्ती मता का भी पता चल जाता है जो या तो इन परवर्ती मता के विरोधी थे या इन्हीं में घुल मिल गये हैं। आगे हम इस प्रकार के कई धर्म-मता का उल्लेख करेंगे। इसलिए भारतीय धर्म साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। इसे सुचारु रूप में करने के लिए केवल लिखित-साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक-कथा, मूर्ति और मन्दिर, माघुआ व विनोद विनोद सम्प्रदाय, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार, पूजा-अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है। परन्तु हम दृष्टि से बहुत कम काम हुआ है। जो कुछ हुआ है वह भी विद्वानी विद्वानों के परिश्रम का ही फल है। इसके लिए हम उनका कृतज्ञ होना चाहिए। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण हमारा है, परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया है वह हमारे काम तो आता ही है।

गोरक्षनाथ (गारखनाथ) के द्वारा प्रवर्तित यागि सम्प्रदाय नाम का धर्म विमोक्त हुआ है। पण्डितों के अलग होना का कोई-न-काई भेदक कारण हुआ करना है। हमारे पास जो साहित्य है उससे यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से या साधना विषयक या तत्त्ववाद विषयक किन मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्ष-सम्प्रदाय की जो व्यवस्था इस समय उपलब्ध है उसमें ऐसा मालूम होता है कि मित्र मित्र-सम्प्रदाय उनके अव्यवहृत पश्चात् उत्पन्न हुआ गया। भक्त हरि उनके गिण्य बताया जाते हैं कानिफा उनके समकालीन ही थे। पूरन भगवत या चौरगा नाथ भी उनके गुम्हाड और समकालीन बताया जाते हैं। गार्गीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिफा के गिण्य थे। इन सबके नाम से सम्प्रदाय चले हैं। जाल-धर्मनाथ उनके गुरु के मतीय थे। उनका प्रवर्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गारखनाथ के समसामयिक पूर्ववर्ती और अपने परवर्ती जितने निम्न हुए हैं सभी के नाम के सम्प्रदाय गारखनाथ में शामिल हैं।

वर्तमान नाथपंथ में जितने सम्प्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पंथों से सम्बद्ध हैं जिनमें आर्ये गिण्य के द्वारा प्रवर्तित हैं और आर्य गोरक्षनाथ द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह या अठारह सम्प्रदाय थे जिन्हें गारखनाथ ने नष्ट कर दिया। इन नष्ट किये जानेवाले में कुछ गिण्यजी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गारखनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथजी की जीवित-वस्था में ही हम बहुत-से सम्प्रदाय थे जो अपने-को उनके अनुवर्ती मानते थे और उन

अनधिकारी सम्प्रदायों का दावा इतना उलझ गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अठारह को तोड़ दिया। क्या यह सम्भव है कि कोई महान गुरु अपने जीवितकाल में ही अपने माग को विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और भेदों को दूर न करके पंथा की विभिन्नता को स्वीकार कर लें ? इसका रहस्य क्या है ?

गोरक्षनाथ का जिस काल में आविर्भाव हुआ था वह समय भारतीय साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक और मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना अथवा मन्त्र-तन्त्र, टोने टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दमवी शक्ती में यद्यपि ब्राह्मणधर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधायन स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धी, शैवी और शाक्ता का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधायन को नहीं मानता था यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की कि उनके माग को श्रुति सम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक गाव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधायन को बिल्कुल नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व गावों का पाशुपत मत काफी प्रबल था। हुएनसांग ने अपने यात्रा विवरण में इसका उल्लेख बारह बार किया है। यद्यपि दान के टीकाकार प्रशस्तपाद को भी पाशुपत बताया जाता है। वाणभट्ट ने अपने ग्रंथों में इस मत की चर्चा की है और शंकरानाथ ने अपने शारीरक भाष्य (२२ : ७) में इसका खंडन किया है। लिंग पुराण में पाशुपत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग ऋग्यजुर् और मन्त्र धारण करते थे, तान्त्रिक लोग तन्त्र लिंग का और गूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र-पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना किया करते थे। वामनपुराण में शिव पाशुपत कालामुख और कपाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ गाव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थान्वये) के समान और उनमें भिन्न स्वतन्त्र प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया गया है। कामीर का गाव दान इन आगमों से प्रभावित है। वसंत तन्त्रशास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नहीं जाता। आगम शाक्त तन्त्र में उस शास्त्र का कहने हैं जिस शिव नंदी को सुनाया था। इस प्रकार ये सम्प्रदाय स्वयं भावों का बहुत महत्त्व नहीं देते थे और वैदिक माग के बड़-बड़े आचार्यों भी उन्हें प्रवर्तित ही समझते थे।

जिस प्रकार एक गाव का अन्तिम और अविमर्शनी प्रमाण मानते का

आग्रह था, उसी प्रकार उसका विरोध भी हुआ। पहले तो हमें इस विरोध का पता नहीं लगता पर धीरे धीरे तत्त्वा में उसका स्वर केवल दृढ़ ही नहीं कठोर भी हो जाता है। क्या इसमें आयुपूर्व जातियों की देन है? क्या यह उन जातियों के मनीषियों की प्रतिश्रिया थी जो अब तक अपनी बात आयुभाषा के माध्यम से नहीं कह सके थे? तान्त्रिक और योगी तो उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटती ही गयी घटी बिल्कुल नहीं। और ये लोग अधिकाधिक उमाह से डके की चोट मोधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके धक्का-मार बना के कहन गये। तुम कहते हो सूर्य प्रकाश और जीवन देता है? बिल्कुल गलत। वही तो मृत्यु का कारण है। चन्द्रमा से जो अमृत भरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है। उसका मुह बंद कर देना ही योगी का परम कर्तव्य है।^१ क्योंकि जो आकाश में तप रहा है वह वास्तव में सूर्य नहीं है, असल में सूर्य नाभि के ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालु के नीचे (हठ० ३—८८)। तुम कहते हो गोमांस भक्षण महापाप है? वाष्णी पीना निषिद्ध है?—भोले हो तुम। यही तो कुलीन कालक्षण है, क्योंकि गो जिह्वा का नाम है और उसे तालु में उलटकर ग्रहार्ध की ओर ले जाना ही गोमांस भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत भरा करता है वही तो अमर-वाष्णी है। इसका पीना तो बड़े पुण्य का फल है। (हठ ३—४६, ४८) तुम कहते हो बाल विधवा सम्मान और पूजा की वस्तु है? सारे समाज को उसके सम्मान की और रक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए?—बिल्कुल उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुना की मध्यवर्ती पवित्र भूमि में वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल विधवा है उसको बलात्कारपूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णु के परमपद को प्राप्त करने का सही रास्ता है। कारण स्पष्ट है—गंगा इडा है यमुना पिंगला। इन दोनों की मध्यवर्तिनी नाडी सुषुम्णा में कुण्डलिनी नामक गाल रण्डा का जड़दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्य का परम लक्ष्य है।^२

१ यतिवचित्स्रवते चन्द्रादमत दिध्यहपिण ।

तत्सव प्रसते सूर्य तेन पिंडो जरायुत ॥—हठ० ३—७६

२ गगायमुनयोमध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।

बलात्कारेण गृह्णीयात तदविष्णो परम पदम् ॥

इडा मगयती गगा पिंगला यमुना नदी ।

इडापिंगलयोमध्ये बालरण्डा तु कुण्डली ॥—हठ ३—१

तुम कहते हो कि पंचमवर्णों अत्रघत उनकर मात्र तत्र करने से मिद्धि मिलेगी ?—वतुकी बात है यह । अपनी घरनी को लेकर जब तक बेनि नहा करत तब तक बोधि प्राप्ति की आशा बकार है । इस तस्णी घरनी व बिना जप होम सब यथ है क्याकि घरनी तो असल म महामुद्रा है । उसर बिना निवाण पत्र कसे मिल सकता है ।

यागियो सहजयानिया गौर तान्त्रिको व ग्रन्था से ऐसी उनट वांस्निया का संग्रह किया जाय तो एक विराट पाया तयार हो सकता है । परंतु हम अधिक संग्रह करने की जरूरत नहीं । इस प्रकरण म जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है वही हमारे काम के लिए पर्याप्त है ।

सहजयानियो म इस प्रकार की उल्टी वानिया का नाम सध्या भाषा प्रचलित था । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मत स सध्या भाषा' स मतलब ऐसी भाषा स है जिसका कुछ अंग समझ म आवे और कुछ अस्पष्ट लग पर नान क दीपक से, जिनका सब स्पष्ट हो जाय । इस व्याख्या म सध्या शब्द का अर्थ साभ मान लिया गया है और यह भाषा आधवार और प्रकाश के बीच की सध्या की भांति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है । किन्तु ऐसे बहुत स विद्वान हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते । एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सधिय दश की भाषा है । सधिय दश भी इस पंडित के अनुमान क अनुसार नह प्रदेश है जहा बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती हैं । यह अनुमान स्पष्ट हो निराधार है क्योंकि इसम मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा स इसी भांति चल आ रहे हैं । महामहोपाध्याय विद्युत्तेवर भट्टा चाय का मत है कि यह शब्द मूलत सध्या भाषा है मध्या भाषा नहा । अर्थ अभिसिधसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है । आप सध्या शब्द को संस्कृत सधाय (—अभिप्रत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं । बौद्ध शास्त्र क किमी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान म यह रूप धारण किया है । असल म जसा कि भट्टाचाय मन्त्राय ने सिद्ध कर लिया है वेदा और उपनिषदो म से भी

५ एक न किज्जइ मत न तत्त । णिय घरणी लेइ केसि करत ॥

णिय घर घरणी जाव ण मज्जइ ताय कि पंचवरण विहरिज्जइ ।

एय जप होमे मडल कम्मे । अनुदिन अच्छसि कोहिउ पम्मे ।

तो पिणु तरणि निरत्तर नेहे । बोहि कि लागइ राण वि देहे ।

—कृष्णाचाय का दोहा, बौद्ध० प० १३१ ३ और इसको संस्कृत टीका ।

एम् उदाहरण खोज निकाले जा सकत हैं जिनमें मध्या भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं परन्तु बौद्ध धर्म की अंतिम यात्रा के समय यह शब्द और यह गली अधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था ।

लखित ग्रन्थ तक यह विरोध कुछ कायम न रहा हुआ । राजनीतिक और अर्थनीतिक कारणों ने मूल समस्या को घर दबोचा । ब्राह्मण मत प्रबल होना लगा और धर्मनाम के आगे के वाक्य सारा देना जबरन प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक तत्त्वों के रूप में विभक्त हो गया तो किताबें पर पड़े हुए उनके सम्प्रदायों का पाना में से किसी एक को चुन लेना पड़ा । अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद प्रधान हिंदू समाज में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे । कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गए । दसवीं ग्यारहवीं सदी के बाद कम-बहुत वे ब्राह्मण सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी कि अपने को ब्रह्मानुयायी सिद्ध किया जाय । गवां न भी ऐसा किया और गवांता न भी । परन्तु कुछ माग्य तन्त्र वेद विराधी थे कि उनका मामजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका, वे धीरे धीरे भुमन्मान होत रहे । गोरक्षनाथ ने योग मार्ग में ऐसे अनेक मतों का संघटन किया । हमने ऊपर देखा है कि गुरु गुम्भाई और गुप्ततीर्थ कह जाने वाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है । जालंधरनाथ मत्स्यद्र नाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रंथों से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवाह करने वाले न थे । इन सबके निष्पत्ति और अनुयायी, भारतीय धर्म-साधना के इस उथल-पुथल के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए । परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थे कि वे किसी प्रकार के याग माग्य का अंग बन ही नहीं सकत थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया । शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे । एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदायों में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे ।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव बौद्ध और शैव सम्प्रदाय थे जो वेदब्राह्मण होने के कारण न स्वीकृत थे न मुसलमान । जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से जो प्रतिद्वन्द्वी धर्म साधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया । जो शैव मार्ग और शैव मार्ग वेदानुयायी थे वे बहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिंदू समाज में मिल गए और निरंतर अपने-आपने का बहत्तर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते

रहे। गोरक्षनाथ ने उनका दो प्रधान दल म पाया होगा—(१) एक तो वे जा योगमाग के अनुयायी थे परन्तु गय या गानन नहीं थे (२) दूसरे वे जा गिव या शक्ति के उपासक थे—गवागमा के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष सम्मन योगमाग के उतने नजदीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मन माग के नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमाग में स्वीकार कर लिया बाकी का सम्बन्ध कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से एक बहुत से सम्प्रदाय आ गये जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जान लगा। धीरे धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गयीं तो उन पुराने सम्प्रदायों के मूल प्रवक्तकों को भी गोरक्षनाथ का गिप्य सम्मान जान लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का बात समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल निणय के प्रसंग में पड़ना न रचा है। तथाकथित गिप्या के काल के अनुसार वह कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं तो कभी दसवीं के कभी ग्यारहवीं के और कभी कभी तो पंद्रहवीं-दूसरी शताब्दी के भी।

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आधिन नहीं है। कभी कभी एकाध प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं।

गोरक्षनाथ और गिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवित काल में ही अनेक सम्प्रदायों का स्रष्टन करेगा। सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित हात हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उपस्थित होते हैं। गुरु के जीवितकाल में होते भी हैं तो गुरु उन्हें दूर कर देने हैं। परन्तु प्रमाण और भी है।

योगि सम्प्रदायाविष्कृति में लिखा है (पृ० ४१६-४२०) कि धवलगिरि से लगभग ८०-९० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोग का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छान-बीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथजी का यश चारों ओर फैल रहा है यदि उनसे प्रायना की जाय कि वह हम अपने माग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोग का मत लोकमाय हो जाय। इन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षजी ने कहा—आप यथाय रीति से प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, अपने अवलम्बित माग की वृद्धि करना चाहते हैं? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अपने सब भगडा का छाड़कर केवल योग त्रिपाद्यों से ही सम्बन्ध जो-

लें, इसके अतिरिक्त यदि अर्पण (पहले से ही गृहीत) मत्त की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि साधुमा का काय जहाँ गृहस्थ जना को समाग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारा को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करन के लिए कब बढ़ हो जायें। वाममागिया ने—जिहू लेखक ने यहाँ 'कपाली' कहा है—दूसरी बात का ही स्वीकार किया और इसलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रायना अस्वीकृत कर दी। यह पुगन मत्त का अर्पण माग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने माग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखवसो (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी मुठभेड़ हो गयी थी। कालीजी को ही हारना पड़ा। फलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में शामिल हो गये। तभी से गोरक्षमाग में काली-पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारत में गोरख-पन्थिया में काली पूजा प्रचलित है। यह क्या योगि सम्प्रदायाविष्कृति में दी हुई है (१०१६४ १६६)।

मुसलमानी आक्रमण तीर-फनक के समान उत्तर भारत में तजी से घुस गया। यहाँ यह एक अप्रत्याशित अपरिचित बात थी। इस तीर फलक के चारों ओर उन दिना की बौद्ध और वेद विरोधी अथ साधनाएँ छितरा गयीं। नाथ और निरजन मत्त इस तीर फनक के इद गिद गये वातावरण के अनुकूल बनन लगे। वहीं उसने वैष्णव रूप ग्रहण किया कहीं शैव रूप। अचानक दक्षिण के भक्तिमत्त का अभिर्भाव हुआ।

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईसवी सन की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्धधर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हजारों अनुयायी थे मठ थे विश्वविद्यालय थे और विद्वान भिक्षुओं का बहुत बड़ा ञ्च था। ११६३ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालंदा और ओदंतपुरी के विहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पुछवाया कि इन पुस्तकों में क्या है तो ज्ञान वाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। सम्भवतः पहले से ही विद्वान भिक्षु भागकर अय्यत्र चल गये थे। कदाचित् इसी साल बनारस भी जीता गया और मारनाथ का विहार और ग्रन्थालय नष्ट किये गए। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पंडितों का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकालय और

हम उसकी चर्चा करन जा रह है ।

सोलहवीं शती में उड़ीसा में छ बड़े भक्त बप्पण कवि हुए हैं । इनमें से पांच अर्थात् (१) अच्युतानन्द दास, (२) बलराम दास (३) जगन्नाथ दास, (४) अनन्त दास और (५) यशोवन्त दास समसामयिक थे । इनका आविर्भाव उड़ीसा के प्रतापहर नामक राजा के राज्य-काल में हुआ था । छठे चतुर्थांश इनके थोड़े परवर्ती हैं । इनका आविर्भाव प्रतापहर के राज्य काल के अन्तिम हिस्से में हुआ था । श्री नगेन्द्रनाथ दशु ने लिखा है कि ये बप्पण कवि वस्तुतः बुद्ध भक्त थे । अपने को राजकीय नय से बचाने के लिए ही ये बुद्ध को भगवान् विष्णु का अवतार कहकर पूजा करते थे । श्रीकृष्ण का अष्टौत्तम गूढ रूप श्रीर निरजन रूप कहकर याद किया है । बलराम दास ने विराट गीता में श्रीकृष्ण को बार-बार गूढ रूप कहा है और यह भी बताया है कि वे गूढ में स्थित हैं

तोहर रूप रेख नाहीं ।

गूढ पुरुष गूढ देही ।

बोड़ले गूढ तोर देही ।

आवर नाम थिव काहीं ।

और—

तोर गूढ रूप गूढ देह ।

कि ना दत्तारि नाम ध्यूह ।

अपनी गणेशविभूति दीक्षा नामक पुस्तक में बलराम दास ने गूढ रूप में स्थित ज्योति स्वरूप भगवान् निरजन का वर्णन इस प्रकार किया है

अनाकार रूप गूढ गूढ मध्ये निरजन

निराकार मध्ये ज्योति स ज्योतिर्भगवान् स्वयम् ।

यस गूढ रूप निरजन देवता के चक्कर में भक्ता को मुक्त करन के लिये कबीरदास की कितनी बार अवतार ग्रहण करना पड़ा है । कबीररायी पुस्तिका में इस निरजन के प्रताप का बड़ा भयंकर वर्णन है । इसी का नाम गूढ रूप काल और धमराय बताया गया है ।

अपने विष्णुगान नामक ग्रन्थ में चतुर्थांश ने छ विष्णुगान की चर्चा की है । सनक ने गीतक में प्रश्न किया था कि हे गीतक एक विष्णु का ना सारा गसारा

जानता है पर पाँच और विष्णु किस प्रकार हुए ?' गौतम ने बताया कि महा विष्णु का घर ही गूँय में है और वह स्वयं गूँय-स्वरूप है

गूँय हिंडि ताहार अटइ निज घर

गूँय रे थाइ से गूँये करइ विहार

यहाँ यह लक्ष्य करने की बात है कि कबीरपंथी पुस्तकों में भी निरजन का पान के लिए 'गूँय' का ध्यान आवश्यक बताया गया है। महादेवनाथ नामक उन्मिया वण्णव कवि ने धम्मगीता में बताया है कि किस प्रकार महागूँय ने सृष्टि करने की इच्छा से निरजन, निगुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्रों का पैदा किया था पर ये सभी सृष्टि करने में असमर्थ रहे। अतः उस महागूँय महाप्रभु ने अपने का धम्म रूप में आविर्भूत किया। इसी 'धम्म' ने माया की सहायता से महाविष्णु और महेश्वर नामक पुत्रों को उत्पन्न किया और सृष्टि रचना की। यह क्या कबीरपंथी साहित्य की क्यासा से प्रायः दूब-बदू मिल जाती है। बगाल के रमाई पंडित ने अपने गूँय पुराण में (जिसकी चर्चा आगे की जा रही है) कुछ इसी प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया है।

सन १५२६ ई० में उड़ीसा के राजा प्रतापमंद ने बौद्धों का दमन किया था। इससे दलना तो स्पष्ट है कि वहाँ उन दिनों बहुमर्याद बौद्ध वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि उड़ीसा का अन्तिम राजा मुकुंददेव जिसे मुसलमानों ने राजच्युत किया था बौद्ध था और उसने अनेक बौद्ध मंदिर और मठ स्थापित किये थे।

ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाकों को घेरकर बीरभूम से रीवा तक फैले हुए भूभाग में अनेक स्थानों पर धम्म देवता या निरजन की पूजा प्रचलित थी। अनुमान किया गया है कि यह धम्म सम्प्रदाय बौद्धधर्म का प्रच्छन्न (या विष्मृत) रूप था। बिहार के मानभूम बगाल के बीरभूम और बाँकुडा आदि जिलों में एक प्रकार के धम्म-सम्प्रदाय का पता हाल ही में लगा है। यह धम्म मत अब भी जी रहा है।

धम्मपूजा विधान में निरजन का ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है

ओं यस्यात्ता नादिमध्य न च करचरण नास्तिकायो निनादम

नाकार नादिरूप न च भयमरण नास्ति जन्मव यस्य ।

योगीन्द्रध्यानगम्य सकलदलगत सवसकल्पहीनम्

तत्रकोऽपि निरञ्जनोऽमरवर पातु मा गूँयमति ॥

रमाई पंडित के गूँयपुराण में धम्म को गूँय रूप, निराकार और निरजन कहकर ध्यान किया गया है

गू-यरूप निराकार सहस्रविघ्नविनाशनम् ।

सवपर परदेव तस्मात्त्व धरदो भव ॥ निरजनाय नमः ॥

धर्माष्टक नामक एक निरजन का स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरजन के स्वरूप पर बड़ा सुंदर प्रकाश पड़ता है ।^१

इधर हाल ही में पता चला है कि धम गब् वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतीकृत रूप है । यह कूम या कछुए का वाचक है । डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द जो अग्नाक व गिलातेखा में भी मिलता है और उत्तर कालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है । सथाल आदि जातियों की भाषा में यह नामा रूपा में प्रचलित है । इन भाषाओं में ओम स्वाथक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम दुनोम दरोम का भी अर्थ कछुआ होता है । इसी शब्द का संस्कृत रूप धम है जो संस्कृत व इसी अर्थ के साथ गड़बड़ा दिया गया है । इस प्रकार धम पूजा जिसमें कछुए का मुख्य स्थान है सम्भवतः सथान मुडा आदि जातियों व विश्वास

१ ओं न स्थान न मान न चरणारविन्द रत्न न रूप न च धातुवर्ण ।

द्रष्टा न द्रष्टि श्रुता न श्रुतिस्तस्म नमस्तेऽस्तु निरजनाय ।

ओ श्वेत न पीत न रक्त न रेत न ह्रस्वरूप न च वणकण

न च द्वावर्ह्नि उदय न अस्त तस्म नमस्ते निरजनाय ।

ओ न वक्ष न मूल न बीज न चाक्षुर गात्रा न पत्र न च स्वधपल्लव

न पुष्प न गन्ध न फल न द्याया तस्म नमस्ते निरजनाय ।

ओं न अघा न ऊर्ध्व गिर्वो न गत्रतो नारी न पुष्पो न च लिङ्गमति ।

हस्त न पाद न रूप न द्याया तस्म नमस्ते निरजनाय ।

ओं न पद्मभूत न सप्तसागर न दिगा विदिगा न च मेघ मन्दिर ।

वह्ना न इन्द्र न च विष्णु न तस्म०

ओं वह्नाइन्द्र न च चन्द्र न कातकीर्ज न च गुह निष्य ।

न इह न तारा न च मघजाता तस्म०

ओं वेदो न गार्ग्य स प्या न स्तोत्र मन्त्रो न जाप्य न च घ्यानकारण ।

होम न दान न च देवपूजा तस्म०

ओं गम्भीरपार निवाणगूय समास्तार न च पाप-मुष्य ।

विहृति न विहर्षो न दक्वे मम चित्त शीत तस्म नमस्ते ।

—धमपूजा विधान पृ० ७३ ७८ ।

का रूप है। कबीर पंथ में अब भी कूम जी का सम्मान बना हुआ है यद्यपि उनके दूसरे नाम धम की दृज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुंडा लोग मरमाइ पंडित का म्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ग्राम चलकर इस निरजन मत में इस्लाम का प्रभाव भी मिल गया था, पर वह यहाँ विवेच्य नहीं है। यहाँ इतना ही लक्ष्य करने की बात है कि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धमपूजा एक जीवित मत है। उसका सबसे बड़े देवता निरजन या धम हैं। उन्हें रूप वंश आदि स्रष्टा और गूँथ रूप बताया गया है। इस पंथ का अपना माहित्य है जिसे बंगाल में धम मंगल साहित्य नाम दिया गया है। पंडितों का अनुमान है कि धमपूजा बौद्धधर्म का भगनावगम है। कुछ दूसरे पंडितों का अनुमान है कि धम या निरजन देवता वस्तुतः आदिवासियों के ग्रामदेवता हैं। बाद में जब राठभूमि और भारखंड में फाल राजाओं का बौद्धवादी बग तो बौद्धधर्म बहुत सम्मानित हुआ और ग्रामदेवता भी बौद्ध रूप में रंग गये। निरजन या धम देवता भी बुद्ध के नये रूप में प्रकट हुए। जो ही धमपूजा में बौद्धप्रभाव है जरूर।

संक्षेप में स्थिति यह है कि राठभूमि, पूर्वी बिहार, भारखंड और उन्मा में एक ऐसे परम देवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है), जिसका नाम धम (धमराय) और निरजन या और जिम पर बौद्धमत का जबरदस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्धमत का आरम्भ में प्रच्छन्न रूप रहा हो पर बाद में विस्मृत रूप बन गया हो। कबीर मत को इस पंथ से निवटना पड़ा था। विशेष रूप से कबीर पंथ की दक्षिणी शाखा (अर्थात् धमदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वंद्वी मत को आत्ममात करने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय को मानने वाला पर अपना प्रभाव विस्तार करने के लिए कबीर मत में उनकी समूची जटिल सृष्टि प्रक्रिया और पौराणिक कथाओं ने ली गयी थीं। केवल इतना सुधार सफल कर लिया गया था कि निरजन के प्रभाव में जगन को भुक्त करने के लिए सत्यपुरुष ने धार-धार जानीजी का इस घराघाम पर भेजा था। जानीजी कबीर का ही नामान्तर है।

इस निरजन की उत्पत्ति के बारे में गूँथपुराण में लिखा हुआ है कि जब आरम्भ में रूप रखा वंश चिह्न, मूय चंद्र आदि कुछ भी नहीं थे—केवल अधरार ही अधकार था—उस समय महाप्रभु गूँथ में विराज रह थे। उनके मन में जग सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने अनिल की सृष्टि की और स्वयं विम्ब या बुदबुद पर समाधीन हुए। प्रभु के भार को सहन न — भवन के कारण विम्ब या बुदबुद खंड खंड होकर चूँग हो गया। प्रभु

गूय मे विराजमान हुए । फिर जब प्रभु के मन मे विश्व के प्रति दया उत्पन्न हुई तो उन्होंने स्वयं ही अपनी माया बनायी । यही निरजन या धम हुए । गुरु गुरु मे इस निरजन-माया मे हाथ पैर आँख वान आदि कुछ भी नहीं थे । निरजन ने चौदह युग तक अपनी जम्हाई से उत्पन्न एक उलूक की पीठ पर ब्रह्मध्यान मे काट दिया । बेचारा उलूक भूख-भ्यास से व्याकुल हो गया । तब निरजन ने अपने मुख का अमृत उस लिया । उभी अमृत का कुछ हिस्सा गूय मे जा गिरा जो पानी बन गया । उल्लू बहने लगा । तब निरजन की इच्छा से हंस का जन्म हुआ और निरजन उस पर जा विराजे । हंस भार सहन नहीं कर सकने के कारण वहाँ से भाग खड़ा हुआ । उलूक मुनि ने जा यह दगा देखी तो अपने पक्ष फलाकर निरजन भगवान के पास पास फिरने लगे । निरजन ने उन पक्षा को अपने करकमला से स्पर्श किया जिससे कूम् का आविर्भाव हुआ । इसी कूम् की पीठ पर धम या निरजन देवता ने आसन ग्रहण किया । इस प्रकार एक ओर कूम् दूसरी ओर उलूक और मध्य मे निरजन भगवान या धमनारायण ध्यानमग्न हो युगो तक विचरते रहे । परन्तु अन्त मे कूम् भी भार न सह सका और फिर धम और उलूक पानी मे बहने लगे । उलूक की प्रार्थना पर धम ने अपना जनक फेंका जो वासुकि नाग बना और फिर पृथ्वी बनी । धमदेवता और उलूक पृथ्वी भ्रमण करने निकले । जब थककर वे पसीन से तर हो गये तो उसी पसीने से आद्या का जन्म हुआ । यौवनभार मथरा आद्या ने कामदेव को उत्पन्न किया जो धमदेवता का तपोभंग करने चला पर अभंगा पकड़ा गया । उलूक ने उसे मिट्टी के भाँड मे बन्द कर दिया, जिससे कालकट विष उत्पन्न हुआ । निराग्न होकर यौवन मदमत्ता आद्या ने उस विष को ही खा लिया और उसे गभ रह गया । इसी गभ से तीन पुत्र ब्रह्मा विष्णु और शिव उत्पन्न हुए । तीनों ने घोर तप किया । धमदेवता उनको छलने के लिए दुग्ध शिव रूप धारण करके उनके पास गये । ब्रह्मा ने भी उस शिव को ठेल दिया और विष्णु ने भी पर शिव ने उसे स्वीकार किया । फल-स्वरूप प्रसन्न होकर धम नारायण ने शिव को त्रिनेत्र होने का वर दिया । शिव के मुखामत से ही ब्रह्मा और विष्णु के अंतर्गते हुए । इसके बाद आद्या अपने तीनों पुत्रों के साथ निरजन के पास गयी और सृष्टि रचना का उपाय पूछा । निरजन या धमदेवता ने आद्या को कि योनिस्था हो जाओ और समस्त जीव-जंतु तुम से जन्म लें ।

महात्मा दास नामक उडिया ब्रह्मण्य कवि की धम गीता मे धम की उत्पत्ति और सृष्टि रचना के बारे मे यह कहा है

आरम्भ मे जब सूर्य चन्द्र अष्ट दिग्पाल आदि कुछ भी नहीं थे उस समय

महाप्रभु शय में आसन जमाकर बठ हुए थे। जब महाप्रभु ने समस्त दुरिता का नाश कर दिया तो उनके शरीर से धम का मुख प्रकाशित हुआ। उससे उन्होंने जम्हाई ली जिससे पवन की उत्पत्ति हुई। महाप्रभु ने पवन को सृष्टि रचना की आज्ञा दी पर पवन को नर लगा कि यदि मैं सृष्टि करूँगा तो उसका मोह में पड़ जाऊँगा इसलिए उसने सृष्टि कराने का संकल्प छोड़ दिया और योग-तप में निमग्न हो रहा। फिर महाप्रभु ने अनां युग नामक दूसरे पुत्र को सृष्टि कराने की आज्ञा दी। उसे भी समार चक्र में मोह-ग्रस्त होकर फँस जाने का भय हुआ और इसलिए उसने भी सृष्टि नहीं की। फिर तो महाप्रभु ने निरञ्जन नामक तीसरे पुत्र को उत्पन्न किया। वह भी उसी भय से लौट आया। फिर महाप्रभु ने निगुण नामक पुत्र को उत्पन्न किया जिसने गुण नामक पुत्र का उत्पन्न कर सृष्टि करने की आज्ञा दी। गुण न स्थूल को उत्पन्न करके वही आज्ञा दी। उसने धम नामक पुत्र उत्पन्न करके उससे कहा कि तुम सृष्टि रचना का आरम्भ करके तुरन्त लौट आना नहीं तो मोह में फँस जाओगे। वह बेचारा घबराया कि यह कस हो सकता है कि मैं मोह की रचना करूँ और उसी मोह से बचा भी रहूँ। उसका माथे से पसीना निकल आया। उसी पसीन से माया नामक एक स्त्री उत्पन्न हुई जिस देखकर उसके चित्त में विमोह हुआ और उसका शुक्र स्खलित होकर तीन हिस्सा में बँट गया जिससे ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति हुई। इन तीन पुत्रों का सृष्टि करने का आदेश देकर जब धम जानूँ को तयार हुआ तो वह माया भी उसके साथ जाने को तयार हुई पर धम ने उसे पुत्रों के साथ ही रहने का आदेश दिया। इस प्रकार इस कथा के अनुसार महाप्रभु-पवन युग निरञ्जन निगुण गुण-स्थूल धम-माया त्रिदेव यह सृष्टिक्रम है।

यहाँ बगाल और उड़ीसा में प्राप्त दो कथाएँ दी गयी हैं। इस प्रकार की और भी कथाएँ दी जा सकती हैं परन्तु उन्हें बगलाना बकार है। आगे हम देखेंगे कि कबीर-राय का जिन क्षेत्रों में काम करना पड़ा था, उन क्षेत्रों में इस कथा का रूप इससे भिन्न-जुलता था। कबीर-राय की पुस्तक में भी कई छोटी-मोटी तफ़सील में अन्तर है। कारण यह है कि स्थानभेद में कबीर मन के प्रचारकों को कथाएँ कुछ भिन्न रूप में प्राप्त हुई थी। उन्होंने उन्हें बड़ी चतुराई से अपने उद्देश्य की निधि के लिए व्यवहार किया और समूचा धूममत उनके प्रभाव में आ गया।

इस प्रसंग में सत्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्ध-धर्म बण्णव धर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो चीजों के प्रचार क्षेत्र में आते हैं।

विप्रमतीसी म ग्राह्यणा के वण्णव विद्वप का उल्लस है
हरि मभतन के भूत लगाई ।

विष्णुमवत देखे दुख पाये ।

कबीरवानी और 'अनुरागसागर' म कबीरदास के मुह से बहलवाया गया है कि कान (निरजन) कबीर के नाम पर बारह पथ चनाएगा जो लोगो को कबीर की वास्तविक शिक्षाओ स वचित रखकर उहे भ्रम के फन्द म बने रखेगा । कबीरवानी के अनुसार^१ इन बारह मता म स तीसर का नाम मूल निरजन' मत है । हम किसी अथ मूल से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह मूल निरजन मत क्या था । कबीरवानी म केवल इसका नाम भर दिया गया है । पर तु अनुरागसागर म इस पथ का कुछ विस्तृत वणन दिया गया है । यह वणन भी अस्पष्ट ही है । इससे इतना ही पता चलता है कि काल का 'मनभग' नामक दूत 'मूलकथा' को लेकर पथ चलायगा और अपने पथ का नाम मूल पथ कहेगा । वह जीव का लूदी' नाम समझायेगा और इसी नाम को पारस बहकर प्रचार करेगा । भग गब्द का सुमिरन मुह से कहेगा और समस्त जीवो को एक साथ पकड़कर रखेगा ।^२ ऐसा जान पड़ता है कि कबीर पथ की प्रतिष्ठा के बाद भी मूल निरजन सम्प्रदाय ने एक बार सिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा कायम करनी चाही थी जिसे कबीर पथी साहित्य म कबीर महिमा के प्रचार के लिए उपयोग म लाया गया है । परतु कबीर पथी पुस्तकों स मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करने वाला यह मूल निरजन पथ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था । जो ही कबीर

१ कबीरवानी पृ० ४६ ४७

२ चौथा पथ सुनो धमदासा

मनतङ्ग दूत कर परकासा ॥

कथा मत ले पथ चलावे

मूल पथ कहि जग महि आवे ॥

लूदी नाम जीव समझायो ।

यही नाम पारस ठहरायो ॥

भग गब्द सुमिरन भाखे ।

सकल जीव याका गहि राखे ॥—अनुरागसागर, पृ० ६४ ६५

नारित्य से बस विम्बन किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण मत का यत्किञ्चित् परिचय मिलना अवश्य है।

कवीरपन्थ की सृष्टि प्रक्रिया विषयक पौराणिक कथा का सम्प्लित विवरण मेखन ने अत्यन्त दिया है^१। उसका पुनरुत्प्रेषण यहाँ विस्तार भय से छोड़ दिया जा रहा है। हमें हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

- (१) कवीरपन्थ का एक ऐसा प्रतिद्वंद्वी भाग था जिसके परम-देवता निरजन थे। उस देवता के दूसरे नाम घमराज और काल थे।
- (२) इस निरजन का निवास-स्थान उत्तर में मानमरोवर में था।
- (३) ब्रह्मा का बलाया हुआ ब्राह्मण मन इस निरजन का समझ न सकने के कारण मियावाली और स्वार्थी हो गया। यह ब्राह्मण मत भी कवीरपन्थ का प्रतिद्वंद्वी था।
- (४) निरजन को पाने के लिए गूँघ का ध्यान आवश्यक था।^२
- (५) उड़ोसा व जगन्नाथजी निरजन के रूप हैं।^३
- (६) द्वितीय चतुर्थ और पंचम निष्कर्ष में अनुमान होता है कि निरजन बुद्ध का ही नाम था।
- (७) निरजन न मार समार को भरपा रखा है—एसा प्रचार कवीरपन्थ का करना पड़ा था।
- (८) 'अनुरागसागर' 'वामगुजार' आदि ग्रन्थों से केवल दो प्रतिद्वंद्वी मतों का पता चलता है—निरजन द्वारा प्रवर्तित निरजन मन, और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मण मन। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वष्णव मन है। कवीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथञ्चित् अनुकूल

१ दे० हजारप्रसाद द्विवेदी 'कवीर'।

२ घमगीता में महादेव दास ने कहा है कि जिस गूँघ में महाप्रभु का वास है उसे ही बकूठ कहा जाता है।

गूँघ श्रीमक याहार गूँघ भोगवासी।

न गोमे बचत रूप रेत नाहि किछि।

से अघार भुवनै से प्रभुहु भासन।

से स्थान मबुद्ध गुद बकूठ भुवन।—मादन बुद्धिज्म प० १६०

३ तु० तन कली मप्रवर्त समोहाय मुरद्विप।

पात है ।^१

- (६) 'श्वामगुजार' आदि ग्रन्थों से प्राप्त यह क्या प्रायः उलझी हुई रूप में मिलती है जो इस ध्यान का प्रमाण है कि यह किसी भूली हुई पुरानी परम्परा का भगनावेष है ।

इस प्रकार यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं फिर भी उनमें अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है । कबीरपंथी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरजन मन का अध्ययन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार बंगाल उड़ीसा और पंजाब आदि प्रांतों के निरजन मन का अध्ययन किये बिना कबीर साहित्य का अध्ययन भी अधूरा रह जाता है । भारतीय साधना-साहित्य में यह एक महत्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी कभी पुस्तकें अत्यंत पुराने परम्परा का पता देती हैं । गोरक्ष सम्प्रदाय की अनुश्रुतियाँ कबीरपंथ के ग्रन्थ, धर्मपूजा विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन हैं तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं । समूची भारतीय सस्कृति के अध्ययन के लिए इनका बहुत बड़ी आवश्यकता है । लोकभाषाओं का साहित्य हम अनेक अधभूली भूली और उलझी हुई परम्पराओं के समझने में अमूल्य सहायता पहुँचाता है । भारतीय सस्कृति के विद्यार्थी के लिए इनकी उपयोगिता हानिकारक है ।

रूप और सौन्दर्य के मर्मज्ञ गायक कालिदास

कालिदास रूप सौन्दर्य के कवि हैं। परन्तु रूप क्या है और उसका फल क्या है ?
आभूषण और अगराग क्या रूप के सहायक है ? कैसे सहायक है ?

कालिदास ने अपने ग्रंथों में भूषण (रघु० १८।४५, १९।४५, मेघ० २।१२), आभरण (माल० ५।७ रघु० १४।५४ कुमार० ३।५३ ७।२१ इत्यादि) अलंकार (माल०), मण्डन (कुमार० १।४ २।११) आदि शब्दों का प्रयोग किया है। शास्त्रीय ग्रंथों में इनके अलग ग्रन्थ अर्थ बताए गए हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास एक के अर्थ में दूसरे का प्रायः प्रयोग करते हैं। उन्होंने बल्कल को भी मण्डन कहा है। (शकु० १।६) और चित्र विचित्र वस्त्रा नयना में विभ्रम विलास उत्पन्न करने वाली मदिरा को, पुष्पा और किसलयों की तरह-तरह के आभूषणों को और चरण-कमला को और भी मोटक बना देनेवाले लाक्षारस या महावर को भी (मेघ० २।१२)। शकुन्तला को कण्व ने 'प्रियमण्डना' कहा था और फिर छात्रम वक्षों के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण वह उनके पल्लवों का मण्डनकाय के लिए नहीं तोड़ती थी। यहाँ तरपल्लव भी मण्डन द्रव्य माने गए हैं। (शकु० ४।२)। इसी प्रकार उन्होंने वसन्त पुरुषों (अग्रेक कर्णिकार, सिद्धवार) को भी आभरण कहा है (कुमार० ३।५२) और अर्थ आभूषणों का भी (कु० ७।२१)। ऋतुमहार में एक जगह (२।१२) माल्य, आभरण और अनुनेपा गन्दा का एक साथ प्रयोग हुआ है जिससे जान पड़ता है कि इनके विनिष्ट अर्थों की ओर उनका ध्यान था अवश्य। साधारणतः ग्रीक अलंकार और भूषण गन्दा का प्रयोग स्वर्ण मणि आदि से यन् अलंकारों के लिए किया है। मण्डन शब्द का प्रयोग प्राकृतिक उपांगन, जैसे पुष्प, पल्लव, मृणालवलय तथा अगराग जैसे चन्दन, कुकुम

गोगाता कस्तूरी मलगाता चाति क प्रगम म लिया है और आभरण का प्रयोग नाता क मय म । उक्त प्रया म अनक प्रकार न मन्दा रूप म रूप का निगार नन वाली स्त्री प्रमाधितामः की भी चर्चा मारी है (कुमार० ७।२० रघु० ७।७) और मासिक को सजाते यात पुष्प प्रमाणनः की भी चर्चा पाई जाती है (रघु० १७।२२)। इतना निश्चित जान पड़ता है कि कालिदास क युग म प्रसाधन-कला अपने निगर पर थी और कालिदास क विषय का ज्ञान भी यत चुकी थी ।

परन्तु कालिदास पुष्प और स्त्री क सहज गुणः को ही मान्य मन्त है । रूप, वण प्रभा राग आभिजात्य, विलासिता सायण्य लम्बा छाया और मोमाय का निगार दो म जा समथ हो वही प्रसन्न म मनकार है । भरत मुनि न नाट्यशास्त्र म सुन्दरिया क भाव रसाश्रय मलहरणा की चर्चा की है । इनमें तीन गारीरिक् मा मगज हैं—भाव हाव, हेला, सात मयलज हैं जिना निमी यल के विधाता की ओर से प्राप्त होने हैं—गोभा काति दीप्ति माधुर्य धय, प्रगल्भता और ओन्माय दस स्वाभाविक हैं विनेष विनेष स्वभाव के व्यक्तिया म मिलते हैं—लीला विलास विचित्रिन्ति विभ्रम तिल विचिन मोट्टामित कुट्टमित ललित और विट्टत । पुष्पा म भी गोभा विलास माधुर्य स्यय गाम्भीर्य ललिता मोदाय तेज आदि गुण समल सिद्ध मलकरण हैं । कालिदास की दृष्टि मुख्यत इही सहज गुणः की ओर गई है । इन गुणों के होने पर बाहरी आभरण हा तो भले न हा तो भल । नास्त्रो म बताया गया है कि समस्त भवस्यामों मे चेष्टाओं की रमणीयता ही माधुर्य है । जिस रूप म यह गुण होता है वह मधुर कहा जाता है । शकुन्तला की आकृति ऐसी ही थी । कालिदास ने कहा है कि ऐसी बोन-भी वस्तु है जो मधुर आकृति का मयन न बन जाए ? कमल का पुष्प शबल जाल से अनुविद्ध होकर भी रमणीय बना रहता है, चन्द्रमा का काला धन्वा मलिन होकर भी गोभा विस्तार करता रहता है और तवी शकुन्तला वत्कल वेष्टिता होकर और भी मनोन बन गई थी—

सरसिजमनुविद्ध गवलेनापि रम्य

मलिनमपि हिमाशोलक्ष्म लक्ष्मी तनोति ।

इयमधिकमनोज्ञा वत्कलनापि तवी

किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतोनाम ॥

(शकु० १।१६)

इसी प्रकार पुष्प मे यदि तज हो तो राजचिह्न और महाप आभरण के बिना भी वह दूर से ही पहचान लिया जा सकता है—उसी प्रकार जिस

प्रकार अन्तर्प्रदावस्थ उस गजराज का पहचान लिया जाता है जिसकी मददगारा अभी प्रकट नहीं हुई है। दिलीप ने राजचिह्न छोड़ दिए थे लताप्रदाना में फसकर उनके लम्ब-लम्ब केश बुरी तरह उलझ गए थे, पर तेजोविशेष की दीप्ति से उन्हें पहचान लता फिर भी आसान था—

स यस्तच्चिह्नं नामपि राजलक्ष्मी
तेजोविशेषानुमिता दधान ।
आसीदनाविष्कृतदानराजि
रतमदावस्थ इव द्विपेद्र ॥

(रघु० २।७)

कालिदास ने नारी सौंदर्य को बहुत महिमा मंडित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी यही निसर्ग सौंदर्य-शक्ति दीप्ति है। भारतीय धर्म माधना में दबी स्वताम्रा में शरीर और मन में आद्या शक्ति—विधाता की आद्या सृष्टि (मघ० २)—का विलाम अपनी चरम परिणति पर आता है। गोभा का अनुप्राणक धर्म यौवन माना गया है—तत्रापि नव-यौवन। राजानक रघुक ने अपनी सहृदय हृदय लीला नामक पुस्तक में बताया है कि इसी अवस्था में अंगों में सौष्ठव और विपुलीभाव आता है और उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट होना है। कालिदास के गानों में कहें तो वपु विभक्त हो जाता है उसमें धर्ममानता प्रादुर्भूत होती है—वभव तस्याश्चतुरस्रोभि वपुर्विभक्त नवयौवनेन (कुमार० २।३१)। कालिदास ने इस अवस्था को अग-यष्टि का अभिमत मण्डन (अर्थात् अयन सिद्ध सहज अलंकरण), मन् का अनासव साधन (बिना मदिरा के ही मत्त बनाने वाला महज मादक गुण) और प्रेम के देवता का बिना फल का वाण (सहजसिद्ध अभिलाषहर्तु) कहा है—

असभत मण्डनमगयष्टे
रनासवाह्य करण मदस्य ।
कामस्य पुष्प व्यतिरिक्तमस्त्र
वात्प्रात्पर साध्य वय प्रपेदे ॥
(कुमार० २/३१)

सत्कुल में जन्म, सुन्दर शरीर और अनायास प्राप्त ऐश्वर्य तथा नवयौवन— इनमें बढ़कर तपस्या के फल की कल्पना नहीं की जा सकती—

कुले प्रसूति प्रेयमस्य वेधस
त्रिलोक सौंदर्यमिवोदित वपु ।

अमर्त्यमश्वयमुल नव धय

तप फल स्यात् किमत्र पर वद ॥

(कुमार० ५।४१)

गोभा और सोदय क वणन म नवयौवन क इस विभेदक धम का कालि दास न विनोप रूप से मान दिया है। इस विभेद या उभार को कालियास ने जमकर अलंकार लभित करके सहृदय हृदय गोचर बनाया है। इसीलिए वह उभर हुए वक्ष स्थल पर झूलते हुए हार (चाटे वे शरत्कालीन चंद्रमा की मरीचिया के समान कोमल मणाल-नाल क बने हा या मुक्ताजाल प्रथित हेम सूत्र म गढ़े गए हो) श्रोणीविम्ब का मंडित करने वाली कनक काञ्ची या हम मेखला हसस्तानुकारी भूपुर स्तनाशुक अपाग विलास मदिरालसनयनापाग आदि का जमकर वणन करत हैं। कणवलय या मृणालबलय उन्हें पसंद है क्योंकि वे सुवत्त कलाइया की गोभा का नितार देते हैं। लाक्षारस और लहरदार किनारी उन्हें रुचिकर है। ताम्बूलराग सिन्दूरराग गोरीचना तिलक धम्मिल्लपाश आदि इसीलिए वणनीय हैं कि वे चतुरस्र गरीर क उभार को अधिक खिला देते हैं। प्रेम का देवता बहुत प्रकार से नवयौवनगाली शरीर म विवाग करके इस विभेद या उभार को आकषक बना देता है—

अगानि निद्रालसविभ्रमानि

वाक्यानि किञ्च मदिरालसानि ।

भ्रूक्षेपजिह्वानि च योक्षितानि

चकार काम प्रमदाजनानाम ।

(ऋतु० ६।१२ १३)

किंतु केवल रूप और यौवन अपने आपमें पर्याप्त नहीं है। प्रेम होना चाहिए। कालियास ने युवावस्था के मनीहर रूप के दो पक्षा पर अधिक बल दिया है। (१) उनर समय म यह प्रवाद प्रचलित था कि विधाता जिस रूप देता है उसके चित्त म महनीय गुण भी देता है उसका चित्त पापवृत्ति की ओर नहा जाता। यह प्रवाद कालियास की दृष्टि म सत्य है—यदुच्यते पावन्ति पापवृत्तय न रूपमित्ययमभिचारि तद्वच । इसका मतलब यह हुआ कि पापवृत्ति की ओर उन्मुख होनवाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं। कालियास इस मिथ्यात्व की पूर्णतः स्वीकार करत है। (२) प्रिय क प्रति सोभाग्य उत्कित करना हा रूप-सौन्दर्य का वास्तविक फल है—प्रियपु सोभाग्यफला हि चाम्ना' (कुमार० ५।५)। राजानक स्यक ने दस गोमाविधायी धर्मों म प्रथम का रूप कहा है और अन्तिम को सोभाग्य। सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके

भीतर प्रकृत्या वह रजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर । ऐसे ही सुभग व्यक्ति के आंतरिक बशीकरण धर्म का 'सौभाग्य' कहते हैं । कालिदास न मेघदूत (१।३१) में सौभाग्य त सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयति' में इस शब्द का व्यवहार अभी प्रथम किया है । यह लक्ष्य करने की बात है कि सौभाग्य की व्यञ्जना विरहावस्था में होती है । रूप बाह्य आकर्षण है, सौभाग्य अन्तरतर का । पावती न रूप की निंदा की थी और सौभाग्य की कामना—निनिन्दरूप हृदयन पावती प्रियपु सौभाग्यफलाहि चारुता ।

सौ, कालिदास के अनुसार यह आंतरिक बशीकरण धर्म ही रूप का फल है । इसीलिए उनके रूप वर्णन का एक ही लक्ष्य है प्रेमी में उस शक्ति की प्रतिष्ठा जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके । अत्यन्त उच्छल श्रृंगारिक वर्णन के प्रसंग में भी कालिदास इस बात का नहीं भूलता । उनके मत से मदन या ममय द्विधाभूत शक्तियों का आश्रय है । एक ओर तो वह अणुजग में व्याप्त मंगल निरपेक्ष यौन आकर्षण है । रूप उसका सहायक बनकर निम्नीय होता है । कुमारसम्भव का मदन-दहन और शकुन्तला के प्रथम प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मंगल निरपेक्ष यौन आकर्षण का प्रतिवाद है । पावती का सारा रूप मदन का सारा पराश्रम और वसन्त का समूचा आयोजन तपस्वी के एक भ्रूक्षेप में ढह गया । देवता चिल्लाते रह गए कि हे प्रभो, क्रोध को रोकिए ! उनकी वाणी अभी आसमान में ही थी कि शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने प्रेम के इस देवता को भस्मावशेष बना दिया—

क्रोध प्रभो सहर सहरेति
यावदगिर खे मरुता चरति ।
तावत्स वह्निर्भवनेग्रजमा
भस्मावशेष मदन चकार ॥

(कुमार० ३।७०)

पावती ने अपने शरीर के लालित्य को 'यथ समभा (व्यथ समस्य ललित वपुरा-मनश्च) और तपस्या के द्वारा रूप को अव्यथ करना चाहा । बिना तप के ऐसा सौभाग्य ऐसा प्रभु ऐसा पति कैसे मिल सकता था ।

मध्यम मार्ग

भगवान् बुद्ध ने आज से कोई दार्द हठार पर पहुँच जिन धर्म धर्म का प्रचार किया था उसे मध्यम मार्ग कहा जाता है। मध्यम मार्ग अश्वत्थ वीच का रास्ता। उन्होंने स्वयं इस मध्यम मार्ग प्रविष्टि या मध्यम मार्ग प्रतिपत्ति कहा था। पर तु यद्यपि बुद्ध भगवान् ने बनाए रास्ते का मध्यम मार्ग कहा रूढ़ हो गया है तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार का विचार किसी और ने कभी रखा ही नहीं।

भगवान् बुद्ध ने अपने जमाने में जिन लोग का दिया था वे साधारण दो बड़ी श्रमियाँ में रम जा सकते हैं। एक तो वे लोग थे जो आत्मा नामक एक नित्य शाश्वत सदा रहनेवाले पदार्थ में विश्वास करते थे और दूसरे को दुःख रूप अनित्य और क्षणभंगुर मानकर कठिन तपस्या में लग जाते थे। वे कई प्रकार से अत्यन्त कठोर तप करते थे। पचाग्नि तापत थे सर्पों में जल में पड़े रहते थे तिरक वाला चुचवा लेते थे वर्षों खड़े रह लेते थे उलटे मुँह लटक कर धूँआँ पी लेते थे करपत्र पर कटकर मर जाते थे तथा और भी न जाने कितने प्रकार के कष्टावलेख की साधना करते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करके वे दुःखमय भवलोक को अनायास पार कर जायेंगे और किसी गुरुदेव आनन्द के अधिकारी होंगे। दूसरे प्रकार के लोग वे थे जो खामोशियों में जीना—यही मानते थे। वे इस लोक में आराम का जीवन बिताते ही महत्त्व की बात समझते थे। मरने के बाद क्या होगा कौन जानता है। जब तक जिम्मा आराम से रहो। ये दो प्रकार के जीवन दान के दो अंतिम छोर थे। बुद्ध ने इन्हें अन्त कहा है। इन दोनों अन्तों से बचने की सलाह दी है। इसी को मध्यम मार्ग कहते हैं। इसके आठ अंगों की उन्होंने शिक्षा दी थी। इसीलिए इसे आठ

आत्मिक भाग भी कहते हैं। बुद्ध ने शास्वतवादी और उच्छेदवादी दोनों से बचने का मार्ग बताया था। उन्होंने कहा था कि जो कहता है कि आत्मा है वह शास्वत दृष्टि के पहले अन्त में नियतित होता है और जो कहता है कि आत्मा नहीं है वह उच्छेदवाद के दूसरे अन्त में नियतित होता है। कबीर की तरह उन्होंने भी कहा था—अरे इन दोनों राहें न पाईं। बुद्ध ने यह नहीं कहा कि मैं जो कहता हूँ उसे मान लो। वे कहते थे बन्धुओं के स्वभाव को समझो। ससार के स्वप्न की जानकारी प्राप्त करो। रोग को जाना रोग के कारण का जानो रोग के कारण के उच्छेद का उपाय करो। खुद सोचो आप अपने मगल बना—अतन्वीपो भव।

बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले उन्होंने कठिन तपस्या की थी। छ वर्ष तक बाधित वन के नीचे आसन जमाकर समाधि लगाई थी। दीर्घ चिन्तन और मनन के बाद उन्हें चार आय सया का माक्षात्कार हुआ था। उन्होंने जाना था कि—(१) दुःख है (२) दुःख का कारण भी है (३) उसका निरोध भी है और (४) इस निरोध का उपाय भी है। उन्होंने आत्मा और ब्रह्म के पचड़े में पड़ना ठीक नहीं समझा। यद्यपि उन्होंने आत्मा के नित्य और शास्वत होने की बात नहीं मानी या कम से कम उसके वेकार के टट में पड़ना आवश्यक नहीं समझा, तो भी प्राचीन काल से चले आते हुए बलिष्ठ धर्म की इन दो बातों को मान लिया—एक तो यह कि कम विपाक के कारण नामरूपात्मक देह का भगुर जगत्प्रपञ्च में बार-बार जन्म और मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है और (२) यह जो जन्म मरण का चक्कर है वह दुःख रूप है। जो इन दो बातों को स्वीकार करता है उसके सामने दो और नये प्रश्न आ जाते हैं। ससार दुःख रूप है ठीक है, पर इस दुःख का क्या कोई कारण जाना जा सकता है और यदि जान लिया जाए तो क्या उसे दूर करने का कोई उपाय है? बुद्ध ने दाना प्रश्न का उत्तर दिया—हाँ, दुःख का कारण भी है उसका निरोध भी है और निरोध का उपाय भी है। यही उपाय बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आठ अंग वाला मध्यम मार्ग है। बहुत विचार के बाद भगवान् ने बताया था कि तप्या और कामना सब दुःखा का मूल है उसी के कारण प्राण बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ता है। इस चक्कर से आत्यंतिक निवृत्ति तभी हो सकती है जब तप्या का शय हो जाये। इन्द्रिय निग्रह से ध्यान से वैराग्य से शीलयुक्त आचरण से सब प्राणियों के प्रति अहंशुकी मंत्री भावना में इस उद्देश्य की मिट्टि हानी है। ब्रह्म और आत्मा की निषेधा या अनित्यता की चर्चा करते रहने में यह उद्देश्य नहीं मिट्ट होना। इसमें निरावश्यक है मयत्त जीवन विवशमहित रहना।

शरीर का पालन, मन्त्री का आचरण । बुद्ध ने पवित्र जीवन पर ही अधिक बल दिया ।

जो लोग शरीर को नाना प्रकार का कष्ट देकर ही आध्यात्मिक सुख मानते हैं वे वस्तुतः शरीर को ही महत्व देते हैं और जो लोग शरीर को सब प्रकार से सजाने सँवारने में ही सुख मानते हैं वे भी जड़ शरीर को ही सब-कुछ मान लेते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा था कि जो खूब खाता पीता है और जो एक दम खाता ही नहीं—इन दोनों से योग नहीं सधता । जो खूब मजे की नींद ही लेता रहता है और जो एकदम सोता ही नहीं, सदा जागा ही करता है—याग इन दोनों के भी वश की दान नहीं । जिसका आहार विहार नियमित है कर्मों का आचरण नपा तुला है, नींद और जागरण परिमित है उसी के लिए योग टुल नाशक हो सकता है । असल में जब सम्यक्त विचार अपने आप ही स्थिर हो जाता है और सब कामनाओं से निःस्पृह हो जाता है तभी आदमी सच्चा योगयुक्त होता है (गीता ६.१६.१=) । यह भी मध्यम मार्ग ही है ।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि वही सुखी है जो जय-पराजय की भावना का त्याग करता है । जय की भावना से वर उत्पन्न होता है पराजय से दम उत्पन्न होता है । अतः दोनों का परित्याग करके उपमान होकर सुख का आमेवन करना चाहिए । राग द्वेष और मोह ये तीन अक्षुण्ण मूल हैं अर्थात् जहाँ इन तीनों में से कोई भी एक है वहाँ कुशल नहीं होता । राग के समान कोई अग्नि नहीं है द्वेष के समान कोई कलि नहीं है और मांति के समान कोई सुख नहीं है । अमोघ के द्वारा क्रोध को साधुता के द्वारा असाधु भाव को ज्ञान के द्वारा कल्प को और सत्य के द्वारा मयावाद या भ्रम को जीतना चाहिए । मन्त्रभाष सुत्त में मन्त्री की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा है कि जितनी प्रणय की श्रियाएँ हैं वे सब मिलकर मन्त्रीभाव की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं होती । एक प्राणी में भी दुष्ट चित्त नहीं होना चाहिए सबके लिए केवल मन्त्री की भावना ही होनी चाहिए । जिसका किसी से वैर नहीं है और जो सभी प्राणियों से मन्त्री करता है वही सुखी होता है । बुद्ध ने इन्द्रिय संपन्न पर बड़ा बल दिया है । वे बताते हैं कि जिसका इन्द्रिय-द्वार भरधिन होते हैं जो भोजन में मात्रा का विचार नहीं करता उसका चित्त और उसका शरीर दोनों दुःख पाते हैं । इस प्रकार उन्होंने बहुत ही उच्चकाटि के महान् जीवन का उपदेश दिया है । उन्होंने मन का समत रखने और इन्द्रियों का वश में रखने की सलाह दी है ।

इन विचारों से अन्तःकरण को शांति देना और पाणि प्रपन्न प्राप्त होना उनके अनुसार बुद्ध दैव का उपनिष्ठा मार्ग निवृत्ति प्रधान था । उसमें लगता है

कि वे मानते थे कि बद्धत्व की प्राप्ति के लिए संन्यासी होना आवश्यक है। परन्तु मध्यम भाग की तरुसगत परिणति गृहस्थ धर्म में ही हाँस सकती है। अभी पालि भाषा में जो ग्रंथ उपलब्ध हैं वे उनके निर्वाण के बहुत बाद धर्म संगानिया में भिक्षुओं द्वारा ही संगृहीत हुए थे। स्वभावतः उन ग्रंथों में भिक्षु धर्म पर जोर है। परन्तु कभी-कभी परवर्ती ग्रंथों में इस प्रकार की बातें भी मिल जाती हैं कि गृहस्थ जीवन में निर्वाण प्राप्त करना एकदम असम्भव नहीं है। नागमेन से मिलित (मीताडर) ने कुछ प्रश्न किये थे और नागसेन ने उनका उत्तर दिया था। यह प्रश्नोत्तर मिलित पट्टो (मिलित प्रश्न) नामक ग्रंथ में संगृहीत है। इस ग्रंथ में (६२४) एक स्थान पर नागमेन ने मीताडर का बताया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए निर्वाण पा लेना विल्कुल अशक्य नहीं है और उसके कितने ही उदाहरण भी मिलते हैं। नागसेन ने बुद्ध के किस उपदेश के आधार पर यह बात कही यह बताना कठिन है। अनुमान किया जा सकता है कि उनके पास इस प्रकार का उपदेश देनेवाला कोई बुद्ध वचन रहा होगा और इन दिनों उपलब्ध पालि ग्रंथों में संगृहीत नहीं हो सका है। जाँहो, यह केवल अनुमान की बात है। आजकल के कुछ बौद्ध शास्त्रों के पंडित इस प्रकार की कई बातों के पुराने बुद्ध उपदेशों में होने की कल्पना करते हैं जो पालि त्रिपिटक में नहीं मिलती।

आज में कोई ढाई हजार वर्ष पहले बुद्ध देव ने मध्यम भाग का उपदेश दिया था। उन्होंने कामावृत्ति वाली तपश्चर्या और भोगमय जीवन दोनों का त्याग का उपदेश दिया और समयित जीवन अहिंसा मन्त्रीभावना और शील युक्त आचरण पर बल दिया। वे तपणा को सब दुःखा का हेतु बताते थे। उनका उपदेश आगे चलकर बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ और कम-से-कम आधी दुनिया उसके प्रभाव में आ गई। आज बंगाली पूर्णिमा के दिन हम इस महामानव का स्मरण करते हैं और उनके चरणों में अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं।

स्वागत

आप अनेक महान देशों से यहाँ पधारे हैं। आपका देश का इतिहास विज्ञान और महान है। आप विद्या और धन दोनों में निष्णात हैं। इतिहास की इस पुष्पभूमि में आपका स्वागत करने में मुझे बड़ा आनन्द और उल्लास अनुभव हो रहा है। मैं नहीं जानता कि क्या कहकर मैं अपना आनन्द प्रकट करूँ। मैं आप सभी मनोपिया को गिरसा प्रणाम करता हूँ।

मुझ यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपका देश की सम्स्कृतियाँ और इतिहास हमारे इस देश की सम्स्कृति और इतिहास की भाँति ही बहुत समृद्ध है। फिर भी हममें एक बड़ी भारी एकता भी है। हम जैसे एक ही उद्यान के बहुविचित्र पुष्प हैं जिनमें रूप वण गन्ध की मोहकता अलग अलग और विशिष्ट होने पर भी एक ही धरती की उबरा गन्धि की देन है। यह सांस्कृतिक समारोह उसी उबरा शक्ति को स्मरण कराता है।

आप सभी हार्दिक प्रणति स्वीकार करें। आपने दूर-दूर से पधारकर हमारे ऊपर जो कृपा की है उसके लिए आभार प्रकट करने के लिए शब्द मेरे पास नहीं है। मुझे पूरा विश्वास है कि आपके आगमन से हमारे सहस्रों वर्ष पुराने सभ्यता में नई चेतना की धारा प्रवाहित होगी। प्राच्य संस्कृति पश्चिम की इस चतुर्थ गोष्ठी में सम्मिलित होने और इसका शुभारम्भ करने का आपने जो अवसर दिया है उसके लिए भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं विगण रूप से भाई श्री नलिनप्रसाद जो व्यास का अनुगृहीत हैं कि उन्होंने इस गोष्ठी में सम्मिलित करके मेरा मान बर्धन है। मैं आतिथित्व में भाई बीम वष रहा और वहाँ पूर्वी और अग्नि एगिया के अनेक विद्वानों और विद्यार्थियों के सम्पर्क में आया। आप सभी जानते हैं कि मेरे गुरुदेव कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने

जितनी सगन और निष्ठा के साथ श्रीलंका, बर्मा थाइलैण्ड, इण्डोनेशिया (जावा सुमात्रा वाली), चीन फारमासा जापान नेपाल, मित्रन, मध्य एशिया आदि देगा में जाकर वहाँ की जनता के माथ अपना देगा के पुराने सांस्कृतिक संवधा को पुन जीवित किया था। उनका प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व के आकर्षण से इन देगा के संबन्ध विद्वान और विद्यार्थी नातिनिकतन आए और पुराने संवधा की सुख स्मृतियाँ को नई प्राणशक्ति से उदबुद्ध किया। मेरा परिचय उन देगा से इसी प्रकार हुआ और मुझे लगा कि हमारे देगा की संस्कृति जितनी दृढ़ भित्ति पर स्थापित है। इस सांस्कृतिक एकता को सबसे बड़ा आधार बौद्ध धर्म ने दिया है। भगवान् बुद्ध के प्रेम करुणा मयी और आत्मभाव के संदेश ने इन महान राष्ट्रों की प्रेरणा दी है। सबसे पहल में प्रेरणा के महान श्रोत भगवान् बुद्ध स्व को ही अपना प्रणाम निवेदन करना चाहता हूँ। उनको महिमामयी वाणी न हो हम सबको हजार वर्ष से एकता और मयी के सूत्र में बांधा है। वह और भी सकेतपूर्ण है कि उसका अधिवेशन उस स्थान पर हो रहा है जहाँ से उनका प्रथम प्रेम मंत्र प्रचारित हुआ था। हजारों वर्षों से वह प्रेम वाणी यहाँ के आकाश में गूँज रही थी। बीच में हम अपने को भूल गए, अपनी सांस्कृतिक महिमा का भूल गए, अपने इतिहास का भूल गए और इसिपत्तन (सारनाथ) का यह पवित्र स्थान खण्डहरों में बदल गया। नीचे विस्मरण के बाद उस पवित्र वाणी को नये मित्रों से श्रीलंका के भन्त आन्तारिक धर्मपाल ने सुना और उनके सतन प्रवर्तना में सारनाथ फिर से नये जीवन की लैकर अतीत के महान मन्त्रों को सनातन में समर्थ हुआ। इस अवसर पर मैं अपना प्रणाम उस महान् धर्मवोज का निवेदन करना चाहता हूँ।

इस युग में जबकि हमारे सभी देगा आर्थिक रूप से या पूर्ण रूप से यूरोपीय राष्ट्रों के द्वारा अभिभूत कर लिए गए हम अलग होन गए। जिन्हें विधाता ने सबसे निकट रहने का विधान किया है जो प्राकृतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतः एक वन हैं, वे एक दूसरे से अपरिचित हो गए। विद्वानों गायन और प्रभाव न हम एक दूसरे से दूर और विग्रहित कर दिया। ऐसे समय में जिस महामनीषी ने अपना काँ फिर से एक करने का दिना में सबसे अधिक प्रेरणा दी वे हैं कवि चर खीन्द्रनाथ ठाकुर। यदि किसी एक व्यक्ति ने इस चिर परिचित परन्तु फिर भी विस्मृत और दूर पड़ गए देगा की एकता का फिर से दृढ़ प्रतिष्ठा दी तो वे महामनीषी कविगुरु खीन्द्रनाथ हैं। मैं उन्हें अपना प्रणाम निवेदन करता हूँ। इस अवसर पर यदि हम उन पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों को भूत जाए निदान वनी निष्ठा और साधनाओं से हमारे पुराने गौरव और सांस्कृतिक संवधा को

उजागर जिगा है तो बड़ी कृतज्ञता होगी। मैं उन सभी विद्वानों को प्रणाम करता हूँ।

बुद्ध देव और महान् बौद्ध धर्म न हमारे देशों के बीच साम्प्रतिक सन्तुष्टि का निर्माण किया है पर उसके साथ ही रामायण और महाभारत ने उसे सुदृढ़ किया है और रसमय बनाया है। सस्कृति क्या है मनुष्य का जो कुछ उत्तम है धर्म में आचरण में भावना में मौल्यबोध में उसका पूर्ण रूप ही सस्कृति है। यह हमारे साहित्य में धर्माचरण में नैतिक व्यवहार में मूर्ति में चित्र में वास्तु में नृत्य में अभिनय में गाना में काव्य में मूल होती है। रामायण महाभारत जातक कथायाँ और अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भारतवर्ष की रचनात्मक प्रेरणा ली है और हमारे पड़ोसी देशों को भी। भारतवर्ष के समूचे साहित्य और कला के मूल में इन्हीं कुछ ग्रन्थों की प्रेरणा रही है और कला विविध सशान्ति है जिन्होंने हमारे पड़ोसी देशों को भी इन महान् रचनाओं से प्रेरित किया है। इस साम्प्रतिक गोष्ठी में हम इस महान् साहित्य की मूल नहीं समझते। बालों की उथल-पुथल को रौंदकर राजनीतिक बबडों की अवहेलना कर आश्रमों और युद्धों की बूचल-बूचल को दो महान् गायों की सत्कार की दो तिहाई जनता के जीवन की जीन योग्य बनाए हुए है। इन सभी देशों के लगभग समस्त रचनात्मक प्रयासों के पीछे इनका हाथ रहा है। इस अवसर पर हम उन महान् साहित्यकारों की कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं जिन्होंने आज भी हम एक सूत्र में बाँध रखा है।

हम दीर्घ काल बाद यूरोपियन राजनीति की सवधानी गति को वापस फिर मिलने के लिए एकत्र हुए हैं। हमारे स्वर्गीय नेता पं० जवाहरलाल नेहरू की दार्शनिक अभिलाषा थी कि हम फिर से एक दूसरे के अधिक निकट आएं। हमारे और आपका देशों के अनेक सम्बन्ध परस्पर हिता के आधार पर स्थापित हैं और हाथ पर जो बान हमका अन्य देशों के परस्पर मित्रता में भिन्न करती है वह है यह प्राचीन काल में चला आता हुआ साम्प्रतिक सम्बन्ध। यह हम मित्रता में अधिक भाई बनाना है। हम अनेक राष्ट्र हैं हमारा अलग राष्ट्रीय व्यक्तित्व है परन्तु हमारी जनता की नाड़ी में एक ही प्रकार का साम्प्रतिक रक्त बह रहा है। इस प्रकार के साम्प्रतिक आवाजन हमारे सम्बन्धों का पुनर्जागृत करेगा।

मैं इस क्षण के लिए कुछ ठोस वाक्य कहने की आवश्यकता अनुभव करता हूँ। निम्नलिखित विधानों में कुछ एका विधान बनाया है कि हम एक-दूसरे की जान बिना अग्रणी और अग्रणी बन जाएँ। हमारे सभी देशों की धर्म शांति विपन्नता

मूर्तिरत्ना नत्स, नाश्व साहित्य और इतिहास का गम्भीर अध्ययन होना चाहिए। इसमें लिए हम कुछ ठोस कदम उठाना चाहिए। हम कम-से-कम सी जिल्ला की एक योजना बनानी चाहिए जिसमें हमारे इन सभी देशों के सांस्कृतिक मूल उपायाना का गम्भीर अध्ययन हो। गम्भीर अध्ययन से भरा मनलब यह है कि वह केवल भावुकतापूर्ण न होकर आधुनिकतम ग्राध पद्धतिमा पर आधारित अध्ययन होना चाहिए। जसा कि आप सभी जानते हैं हमारे सम्प्रदाय में प्राचीन और व्यापक हैं कि उनके स्मरण मात्र से भावुक हो जाना बहुत आसान है। पर हम इतिहास और सस्कृति के अध्ययन में अविहय सत्व और उस यथासम्भव अनासक्त मन के रूप में देखना चाहिए। इस लिये हम यूरोपियन पद्धति की प्रशंसा करनी चाहिए। उन्होंने बहुत कुछ मागदशन पढ़ने से हा कर रखा है।

हम अपने प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों का बहुत कम जानते हैं। जो कुछ जानते हैं वह अधूरे ज्ञान के आधार पर अधूरे विश्वास के साथ लिया गया है। इस समय हम अधिक सावधानी के साथ इस काम को करना होगा। इसके लिए विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों और अन्य सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों में अधिक-से अधिक छात्रों और विद्वानों के आवागमन की व्यवस्था करनी होगी। उन सब उपायों का अवलम्बन करना होगा जिसमें हम एक-दूसरे के अधिक-से अधिक निकट आ सकें।

मित्रों एक बार पुन आपको अपनी प्रणति निवेदन कर इस अधिवेशन के शुभारम्भ की घोषणा करता हूँ।^१

१ प्राच्य सस्कृति परिषद् (चतुर्थ अधिवेशन) सारनाथ में समापति पद से दिया गया भाषण।

पूर्वी एशिया के तीर्थयात्रियों का स्वागत

हम इस पुरानी नगरी में एशिया के नाना देशों से आए हुए आध्यात्मिक सदेश वाहक मित्रों का स्वागत करते हैं। स्वागत करते समय हमारा मन अपार हृष से भरा हुआ है किन्तु उद्वेग भी कम नहीं है। क्या लेकर आपकी अभ्यथना करें किन उपचारों से आपकी पूजा करें? हमारी यह नगरी ससार की उन थोड़ी सी महिमायुगी नगरियों में है जिन्होंने विजयवाहिनी के जयनिर्घोष में अपना गौरव नहीं बलाया बल्कि आध्यात्मिक गति की ललित वाणी से अपनी सत्ता बचा रखी है। ससार में इस श्रेणी की नगरियाँ बहुत कम हैं। और शायद हमारी यह नगरी काशी उन सबमें पुरानी है। वह आज भी जी रही है। आज भी उसका दावा है कि वह गिव के त्रिशूल में ऊपरली नोक पर जड़ी हुई है—जगत प्रपञ्च से थोड़ा ऊपर और अपना भारसाम्य अपने आपमें ही सभाते हुए ही क्योंकि यदि वह अपना भारसाम्य स्वयं न बनाये रखे तो विशाल की नोक पर गिर नहीं सकेगी। यही शिवा और सत्त्वृति महानाथ का आदेश रहा है। इसी आदेश की रक्षा करती हुई हमारी यह नगरी युग युग से अपनी गतिभर अध्यात्म तत्व का सदेश दे रही है। जब गतिशाली सम्राटों का विजयवाहिनियों के उन्मत्त ताण्डव से राजमार्ग रक्तपिच्छिल बनन रह है तब भी भूमिर्मा भस्म में परिणत होती रही हैं निरीत जनता चाहि चाहि पुनारती रही है तब भी काशी ने कपिपा मुनिया सत्ता आचार्यों के मुख से निरन्तर धर्म का ही सदेश दिया है। जब नव दुनिया का उन्मत्त कम हुआ है जब उसका नंगा उत्तरा है उसने इस पुरी के महापुरुषों की वाणी सुनी है—यही पूजा के गौरव में गरियान महिमा की स्मृति हम साहम दे रही है कि हम आपका स्वागत करें। आप जन्मे सत्त्वृति सम्पन्न महापुरुषों का सत्संग हम केवल पूजा के पूण बल से ही प्राप्त हुआ है।

अपने भीमात्म पर हम गव है पर अपनी अकिंचनता मे हम खेद हा रहा है । आप जसे महान अयितिया का स्वागत जिस ऊँचे आध्यात्मिक घरातल पर होना चाहिए उस पर अपने को न देखकर मन म क्षोभ अवश्य होता है फिर भी हमन यह अ गा नहा छोडी है कि समार यदि मचमुच हो मनुष्यत्व के ऊँचे आसन की तरफ बटना चाहता है तो वह उस आध्यात्मिक मदग को सुनने को अवश्य बाध्य होगा जिस हमारे पूर्वजों ने अपनी वाणिया म व्यक्त किया है और जिसके प्रचार के लिए आप जसे चानी गुणी, सत-जन इतना परिश्रम कर रह हैं ।

आज बडा दुषट काल उपस्थित है । ससार म व्यक्तिगा वर्गों और राष्ट्रा के स्वाथ ने एमी दाम्ण अवस्था को सष्टि की है कि गान्नि का नाम लेना भी नाम्याम्पन जान पड़ता है । मानवी प्रयत्ना के ममुद्र म भयकर मयन हा रहा है । पता नही इसमे किन्ते रत्न निकलेंगे किन्ता हिस्सा विप का होगा और किन्ता अमृत का । परन्तु अभी तो ऐसा लगता है कि स्वायों का दानव नाना छला से मनुष्यत्व क अमृत को विशेष भाव स पी हो जाएगा । मेरे गुप्त कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिहने जीवन भर गान्नि और मगल की वाणी का प्रचार किया था मृत्यु के कुछ पूर्व अत्यन्त यथित गंगा म कहा था—नागिनिया चारा और विपाकन निवास फेंक रनी हैं । ऐस समय गाति की ललित वाणी व्यय के परिहास की भाति सुनाई देगी बिनाइ लेने समग इसलिए उन लोग को एक चार पुकार जाता हूँ जो घर घर दानव के साथ लड़ने की तयारी कर रहे हैं । हम वाणी म कवि की वचेनी साकार हो उठी है । मैं समझता हूँ इस व्यथा को लेकर ही आपने भी हिमा और स्वाथ क दानव से जभने का सकल्प किया है । सकल्प—गुप्तसकल्प—का गाति अपार होती है जिस यह सकल्प मिल जाता है उस पर भगवान की कृपा हाती है और वह जगत का उपकार कर जाता है । चारा और क घनीभूत अधकार म यह बात क्षण भर के लिए प्रकाश दे जाती है और थोडा भी प्रकाश वस्तुस्थिति का उसके यथाथ रूप म प्रस्तुत करने म समथ होना है । बाधिर्या अवतार म गातिदेव ने कहा है कि जिस प्रकार मेघाच्छन्न घोर अधकारपूण रात्रि म विद्यन अणभर के लिए प्रकाश विकीण कर जाती है उसी प्रकार कभी-कभी बुद्धि की कृपा से मनुष्य को प्रकाश मिल जाना है और मञ्चा रास्ता नीख जाता है

रात्रौ यथा मेघ घनाधकारे

विद्युत् क्षण दगयति पमाप्य ।

बुद्धानुभावेन तथा कदाचित्

लोकस्य पुण्येषु मति क्षण स्यात् ॥

मो मन्त्र गढ़ा छोड़ता जाति। मुझी और बाधिकावा न जो धर्म मंत्री गाथना बनाई है उग राता गर हम दुःखता क माथ मर रहना जाति। ममार की मन्त्र यही मन्त्रा है स्वाथ का लाभ। गढ़ा यह लाभ धर्मिन क स्वाथ का आश्रय करन है गढ़ी राष्ट्र न स्वाथ को आश्रय करन। आज कोई नहा सोचना कि मुझे गुग न मिलार दूसरा को गुग मिल मरी मुक्ति म दूसरा को मुक्ति मिल मरेपुण्या स दूसरा का उगार हो मरी तपश्चर्या स दूसरा का भला हा। पढ़न स्वाथ बा न और कुछ—यही आज की मन्त्रा का मूल मन्त्र है। स्वाथ भी पढ़ है—धर्मिणन यगगत और राष्ट्रगत। इन स्वाथों के समय म ममार पिंग रहा है मनुष्यता हनी जा रही है— नागिनिया विषाक्त विश्वास न बानावरण को दुःख कर रही है। एम समय क्या गति है? सायन बोधिकावा का पुण्य सन्त्र आज हेमर उडा निया जाए गर उनके गुम सन्त्र स चन्कर हमार पाग रह क्या गया है। मैं जय कभी उग मन्त्र सन्त्र की बान गोचता है तो लगता है, इस पर दन्ता स जम रहन क सिवा दूसरा रास्ता नहीं है— नाथ पन्था विद्यतेऽपनाथ। कितना महान सन्त्र है—

बोधिसत्त्व की मंत्री-भावना

(१)

ये ताडिता बधनवद्धपीडिता
विविधेषु ध्वसनेषु च सस्थिता हि ।
अनेकआयाससहस्रमाकुला
विविचमयदारुणोक्प्राप्ता ॥
ते सवि मुच्यन्तिवह बधनेभ्य
सन्ताडिता मुच्यन्तु ताडनेभ्य ।
वन्धाश्च समुत्थिषु जीवितेन
यसनागता निभय भो तु सर्वे ॥

(२)

य सत्त्वक्षुत्तपिषामपीडिता
लभन्तु ते भोजनपान चित्रम ।
अन्धाश्च पश्यन्तु विचित्ररूपान
बधिराश्च शृण्वन्तु मनाज्ञघोषान ।

नगनाश्च वम्त्राणि लभन्तु धिम्ना
 नरिद्रसत्त्वाश्च निधिं लभन्तु ।
 प्रभूतधनधायविचित्ररत्न
 सर्वे च सत्त्वा सुखिनो भवन्तु ।
 मा कस्याचिद् भावन्तु दुःखवेदना
 सौम्याविता सत्त्व भवन्तु सर्वे ।
 विवजयन्तु खन्तु पापकर्म
 चरन्तु कुशानि शुभक्रियाणि ॥

(१)

इस दुःखमय नरलाक मे—

जितने नलिन वधन-अमित पीन्ति विपत्ति विलीन हैं ,
 जितने कि वधुघघी विवक विहीन हैं
 जो कठिन भय मे और दारुण गार्क से अति दीन हैं
 वे मुक्त हो निज वध स म्वच्छन्त हा सत्र द्रव्य स,
 छूटें दलन के फन् से ।

जीवन्त हा वे जो कि होन जा रह—
 बलि कुटिल भ्रूकुचित किसी के शोष स ।
 आश्वस्त हा व जो कि हा मयभीत—
 विषम विपत्ति के आश्रमण म —
 सबका परम कल्याण हो ।

(२)

जो पट पकडे सो रह हैं ,
 प्याम स जो रा रहे हैं ,
 (धय अपना खो रह हैं)
 हाय ऐसा हो कि व—
 पावें मधुर भोज्यान गीतल वारि—
 सार दुःख भागें दूर ।
 पावें नय नयन विहीन
 जो हैं श्रवण-मुख के दीन
 मृदुल मृदग माहक वीन का आनन्द उनकी मिले ।
 जो हैं ललकते घियडे लपेट रहे नगे डोल
 वे पावें वसन मनमोन

जो है वित्तहीन दरिद्र, व पाये प्रभार निपात

पाय दूध दधि घन धान

पाये रत्न-गनि-संपान—

सबका हा परम कल्याण ।

हो ऐसा कि जग म दुःख स विचल न कोई

धनानि हित न कोई, पापशम कर न कोई

धर्ममाग धरे न कोई

हा सभी सुखगीत पुण्याचार धमव्रती—

सबका हो परम कल्याण ।

सबका हो परम कल्याण ।।

अपने आप तब ही सुख की सीमा नहीं है । सब जब तक सुखो न हो जायें तब तक सुख बसा । इसी महान् मंगल सत्त्व की इस समय आवश्यकता है । आप इसी महाप्रेम की सतार म व्याप्त करने के उद्देश्य मे काय कर रहे हैं । महासत्त्वा हम हृदय स आपका स्वागत करते हैं ।

एक विदेशी लेखक ने एक बार हमारे देगवासिया की एक बात पर आश्चर्य प्रकट किया था उन्हें हमारी यह आदत बुरी भी लगी थी । उन्होंने कहा था कि भारतवर्ष के रहने वाले कुछ ऐसे खराब आदमी हैं कि उनकी भाषा म धक् देना का कोई शब्द नहीं है । हम लोगों ने नई सम्प्रदाय के संपर्क म आकर अब एक शब्द बना लिया है—धक्कावाद । पर पहले हमारी भाषा म यह शब्द नहीं था । विदेशी लेखक को हमारी यह आदत बुरी लगी थी और उन्होंने इस बात को लिख दिया है । उन्होंने ठीक ही लिखा था । हम किसी के प्रति कतल होते है ता हमारी वाणी रुद्ध हो जाती है । हमारे मुह से शिष्टाचार का कोई शब्द नहीं निकलता । यह पुराना दोष है । आप इस गलत न समझ । यदि हमारे मुह से इस समय शिष्टाचार के वचन न निकलें तो निश्चित समझें कि यह हमारी हार्दिक भावना के आवेग के कारण ही हुआ है । आप सहृदय हैं । आप दूसरा के हृदय म प्रवेश करने की क्षमता रखते हैं आप हमारे हृदय की भाषा को सुन सकेंगे ऐसी हमारी आशा है ।

पुराने ऋषि ने ससार के मनुष्यों को पुकारकर कहा था तुम्हारे सकल्प समान हो हृदय एक हो मन अभि न हो और तुम्हारा मिलन शोभन सुन्दर हो—

समानो या आकृति समोना हृदयानि च

समानमस्तु वो मनो यथाव सुसमासहि ।

इस शुभ आशीर्वाद को आज आपका आगमन चरितार्थ करे। आपके शुभागमन से हम अपने को कतकृत्य समझ रहे हैं। हमारा हृदय आनन्द विह्वल है। हमारा पुराना अनुभव है कि महान अतिथियों का आना महान निमित्त का सूचक है। आपका शुभागमन जगत का कल्याणकारक हो—

राग शान्ति

ओ पथिवी शान्तिरतरिभ्यः शान्तिरोपधय शान्ति

विश्वे मे देवा शान्ति शान्ति तामि शान्ति

मि शमयामोऽहं यदिहकूर यदित घोरे यदिह पाप तच्छात

भारतीय लोकतंत्र और संस्कृति

लोकतंत्र और भाषा

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने अपने देश में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था को स्वीकार किया है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का अर्थ यह होता है कि हमारे देश की जनता के चुने हुए लोग देश में कानून और व्यवस्था का संचालन करें। यह शासन-व्यवस्था जनता के द्वारा स्थापित होती है और जनता के हित के लिए कार्य करती है। हमारे देशवासियों की प्रकृति के अनुसार और उसके ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखते हुए ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जो ठीक उसी प्रकार बने हुए अन्य देशों के नियमों से कुछ भिन्न होते हैं। हमारे देश का इतिहास हजारों वर्ष पुराना है। इसमें विभिन्न धर्मों, संप्रदायों, नस्लों और जातियों के लोग बसते हैं। उनकी अपनी परंपराएँ भी कुछ अलग अलग हैं। इस प्रकार हमारे राष्ट्र में विविधताएँ और वैविध्य है। अलग अलग समुदायों के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति, भाषा आदि में भी अंतर दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य राष्ट्रीय हित का भाग खाना कठिन हो जाता है। हमारे लोकतंत्र में इसी कठिन भाग को अपनाया है। इसके लिए हमारी संविधान सभा ने धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था का भाग निकाला है। इसका अर्थ यह है कि हम यह संकल्प कर चुके हैं कि किसी समुदाय विशेष के धार्मिक विश्वासा में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। सबका अपने अपने भाग पर चलने की स्वतंत्रता होगी। राज्य किसी एक धर्म को मायता नहीं देगा और सभी धर्मों के उन महान् आदर्शों को अपनाया करेगा जो मानवता के पोषक और उत्साहक हैं। यह भाग कठिन है। इसमें सहनशीलता उदारता और धैर्य के साथ सभी काम करना जरूरी है। पर कठिन होने पर भी यही भाग अनुपमता का सही भाग है।

इसमें भाषा सम्बन्धी समस्या कुछ अधिक जटिल है। हमारे देश के सविधान में बहुत विचार के बाद चीन्हा मुख्य भाषाओं को मान्यता दी गई है। उनमें एक संस्कृत भी है। संस्कृत हमारे देश की बड़ी शक्तिशाली और समृद्ध भाषा रही है। हमारे हजारों वर्षों के इतिहास में पीढ़ियाँ तक देश के सर्वोत्तम विचारों का नई भाषा में अपने विचार लिपिबद्ध कर रहे हैं। इसलिए संस्कृत को देश की मुख्य भाषाओं में स्थान देना उचित ही हुआ है। बाकी तरह भाषाएँ देश के विभिन्न भागों में बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएँ हमारे राष्ट्र की संपत्ति हैं। इसलिए इन सबकी समृद्धि से ही समूचे राष्ट्र की समृद्धि संभव है।

भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है। भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वाला का जीवन स्तर ऊँचा उठता है। उनमें वाय-कारण परम्परा को सही-मही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र में नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

जो सरकार जनता के द्वारा चुनी जाती है उसमें जनता की भाषा का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परन्तु पिछले डेढ़-दो सौ वर्षों में हम एक पराधीन राष्ट्र के रूप में जीते रह रहे हैं। अंग्रेजों ने इस देश की शासन व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश में प्रचलित किया था और हमारी अपनी भाषाओं का विकास रुक जा गया था। अंग्रेजी भाषा द्वारा शासन व्यवस्था चलाने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशवासियों को जो भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलते हैं एक सूत्र में बाधन का काम अंग्रेजी ही करने लगी है। हालाँकि विदेशी भाषा हान के कारण वह देश की विनाश जनता में ठीक से रोज पीज नहीं सकी है। यही कारण है कि देश को एक सूत्र में बाधने में वह कमजोर मिद्ध हुई है।

अंग्रेजी भाषा बहुत समृद्ध भाषा है और आजकल समार के कई समृद्ध देशों में राजभाषा के रूप में स्वीकृत है। पर है यह विदेशी भाषा ही और देश की समूची जनता का एक नगण्य अंग ही उसमें कुशलता प्राप्त कर सका है। जनता का राज्य हान पर सारी जनता यदि अपनी भाषा में शासन-तंत्र और शासन व्यवस्था का चलाने का अधिकार नहीं प्राप्त करती तो लोकतांत्रिक व्यवस्था निश्चित रूप से कमजोर हो जाती है। संविधान बनाने वाले नेताओं के मन में यह प्रश्न बहुत प्रमुख रूप में उपस्थित था। इसको हल करने के लिए उन्होंने अपने देश की एक भाषा को चुना है जो विभिन्न राज्यों के आपसी

व्यवहार की भाषा बहुत कुछ पहले से ही बनी हुई है। यह भाषा हिंदी है। देश की लगभग आधी जनता इस भाषा को बोल या समझ लेती है। इसलिए ऐसा निश्चय किया गया है कि विभिन्न राज्यों में तो अपनी अपनी भाषाएँ शासन व्यवस्था के लिए काम में लाई जायें परन्तु सारे देश के लिए और राज्यों के पारस्परिक सव्य के लिए हिंदी भाषा का प्रयोग किया जाए। ऐसा करने से ही देश में हर अर्थ में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था कायम होगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में भाषाभाषा की प्रगति में काफी तजी आई है। कई राज्यों ने अपने राज-काज के लिए अपने क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा को स्थान दिया है और विश्वविद्यालयों में भी तजी से देशी भाषाएँ माध्यम के रूप में व्यवहृत होने लगी हैं। परन्तु अग्रजी अभी बनी हुई है। उस एकदम हटा देने में भी कठिनाई है। धीरे धीरे देशी भाषाएँ अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करती जा रही हैं और हिन्दी के प्रचार का भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न हो रहा है। जब तक हमारी अपनी भाषाएँ समझ नहीं हो जाती तब तक लोकतांत्रिक व्यवस्था कमजोर ही बनी रहेगी।

भारतवर्ष में अपनी समझ सम्बृति को उजागर करने के लिए देशी भाषाभाषा को प्रोत्साहन देना बहुत जरूरी है। विदेशी भाषा में लिखा पाने से हमारा स्वतंत्र चिन्तन कुटित हो गया है। समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक अस्तित्व के लिए भी हम अपनी भाषाभाषा को समझ करना आवश्यक है।

यह प्रमत्तता की बात है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बहुत सी बाधाभाषा और कठिनाइयाँ के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएँ उन्नति कर रही हैं। हिन्दी भी सावदेशिक भाषा के रूप की अवस्था प्राप्त कर जाती है। इसमें अनेक विश्वविद्यालयों में एम० ए० तक की पढ़ाई हिन्दी में होने लगी है। सचित्र अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। जब तक आधुनिक ज्ञान विज्ञान के हर क्षेत्र में उत्तम साहित्य का निर्माण नहीं होना तब तक भाषा सबधी परमुत्पापिता बनी रहेगी। भाषा की जानी है कि नीचे ही हमारी देशी भाषाएँ इस प्रकार के साहित्य में समझ हा जायेंगी और हिन्दी तो विनाश रूप से समझ हा जाएगा।

स्वराज्य तभी मायक हागा जब स्वभाषा की उन्नति होगी। जिस भाषा के माध्यम से माधारण जनता तब ज्ञान विज्ञान पत्रक मकना है उसकी उन्नति करना बहुत दानिप्रर हागा।

महात्मा गांधी ने आज में पचास साल पहले कहा था— मैं अपनी अन्त बुद्धि के अनुसार देश-वान में प्रवगत है कि इस देश में बड़े बड़े विज्ञान मह

मानते हैं कि अन्तर्प्रान्तीय उपयोग के योग्य भाषा तो अंग्रेजी भाषा ही है। लेकिन वह भाषा नदापि राष्ट्रभाषा नहीं हुई है, क्योंकि उसमें और हिन्दी भाषा में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। राष्ट्रभाषा ऐसी सहज होनी चाहिए कि जिसे कोई भी सीख सके। यदि हम पराधीनता से ग्रस्त न हों तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी सीखने के पीछे लाखों रुपये खर्च करने के बावजूद गिने चुने लोग ही इस भाषा को सीख सके हैं और ऐसा होने पर भी उस भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले लोग तो इक्के-दुक्के ही होते हैं। इस भाषा को सीखने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है उसे देखता हूँ तो मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि उसमें देश का तेज क्षीण होना जा रहा है।'

प्रगल्भता की बात है कि अपनी भाषाएँ अब सजग हो गई हैं। यदि वे समझ दें तो देश का तेज भी शक्तिशाली होगा।

संस्कृत की कवि-प्रसिद्धियाँ

आज संस्कृत साहित्य में प्रमुख कवि प्रसिद्धियाँ की चर्चा करनी है। कवि प्रसिद्धियाँ कवियों की दुनियाँ की सचाई हैं। साधारण जगत् में जाग उनकी यथायथा में विश्वास नहीं करते। परस्पर से चली आती हुई प्रसिद्धियाँ का कवि स्वीकार कर लेता है और उसको सत्य मानकर अपना कारबार गुरु कर देता है। चन्दन में फूल होते हैं लेकिन कवि प्रसिद्धि है कि नहीं होते। चन्दन के वगीचे में रहनेवाला चाह जो भी कहता हो कवि इस बात को सच मानकर अपना मतलब साध लगा। किसी सहृदय विद्वान की निधनता पर और गुणन राजा की मृत्यु पर उस क्षोभ है वह ब्रह्मा की मवनमयी पर तरस खाना चाहता है। ब्रह्मा की बुद्धिहीनता कद चार और उदाहरण उस स्पष्ट करन ह। वह कह उठता है - सो। में गंध नहीं दी। इश्व के डंके में फल नहीं दिया। चन्दन के वक्ष में फूल नहीं दिया, विद्वान का धनी नहीं बनाया और गुणन राजा को नीर्यायु नहीं किया। जान पड़ता है कि विधाता को पहले कोई बुद्धिदाता गुरु नहीं मिला था।

गंध सुवर्ण फलमिक्षु दंड

नाकारि पुष्प खलु चन्दनस्य।

विद्वान धनी नपति दीपजीवी

नासीत पुरा बुद्धिदाता विधातु ॥

इस प्रकार चन्दन में फूल न आन वाली कवि प्रसिद्धि के सहारे वह अपना वक्तव्य को रसयुक्त और आस्वाद्य बना देता है।

आजकल चित्र का महीना है। पेड़ों में पुष्प लट्टे हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी अनात पुलकोत्सव के कारण धरित्री रामाच कटमिन हो

रही है। वसंत में ऐसा होगा ही है। बच्चा बच्चा जानता है कि इस ऋतु में अगोख कंधे में ही फूल उठना है, बकुल या मौनमिरी का पड अपना छोटे छोटे मनाहर पुष्पा के भार से नख से गिख तक लद जाना है। कुरवक या कठमर्या में जंगल में धरती की निशेप रगीना फूल पडनी है और तिलक पुष्पा के बहान वह मनाहर तिलक बिंदुओं में अपने आपको सजा लेनी है। यह कोई नई बात नहीं है। अनादि काल में ऐसा ही होता आया है। जब जब वसन्त ऋतु आती है तब-तब पृथ्वी के हर कोने में उत्साह की लहर दौड़ पडती है। यह सारा दृश्य अपने आप में ही मादक है, परंतु संस्कृत का कवि किसी बात को या ही सीधे सीधे कहना पसंद नहीं करता। वह अस्पष्ट भावोच्छ्वासा को महत्त्व नहीं देता। वह कविता ही क्या जो चित्त में भावा की मन्दिर तरंगें न लहरा देनी हो, जो पत्र फगार मात्र से पाठक के चित्त को मथित और व्याकुल नहीं बना देती।

तथा कवितया किंवा किंवा चनितया तथा ।

पद शकार मात्रेण यथा नापहत मन ॥

सा संस्कृत कवि की दृष्टि में कविता में मात्कता होनी ही चाहिए। मात्कता भी अस्पष्ट और अतीन्द्रिय नहीं, बल्कि स्पष्ट और मुष्टि ग्राह्य होनी चाहिए। संस्कृत-कवि का विश्वास है कि अगोख या ही नहीं फूलता सुन्दरिया क मनपुर चरणा में आघात से फूलता है और बकुल मुख मदिरा से तिचक खिल उठता है। कुरवक और तिलक तने बढया तो नहीं हैं लेकिन थोड़ा बहुत बहाना उन्हें भी चाहिए। संस्कृत के कवि में आश्चर्यचकित होकर देखा है कि ये वक्ता इन बातों में अभाव में भी कैसे फूल उठते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि सुनयनाद्या द्वारा न तो कुरवक आनिगित हुआ और न तिलक योगित हुआ न अशाक चरणा द्वारा ताडित हुआ और न बकुल उनकी मुख मन्दिरा से सीचा हुआ गया फिर भी चेत क महीन में वे फूलों के भार से लद गए

नातिगित कुरवकस्तिलको न दष्टो,

नो ताडितश्च मुदशा चरणरशोकः ।

सिक्ता न वसत्रमधुना बकुलश्च चने

चित्र तथापि भवति प्रसवावकीर्ण ॥

वस्तुतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह कोई आश्चर्यजनक यापार या करामात नहीं है। कवि के मन में यही जानत है कि करामात असल में वही चीज है जिसके अभाव में उसे आश्चर्य हो रहा है परंतु फिर भी वह जानता है कि केवल फूलों का वणन कर देना पर्याप्त नहीं है। जज तज

वनस्पती के इस सारे पुलकादगम को मानव सौन्दर्य के साथ संबद्ध नहीं कर दिया जाता तब तक उसमें मोहकता नहीं आएगी। इसीलिए वह जान-बूझ कर अनजान की भाँति चित्र की पुष्प समृद्धि देखकर आश्चर्य प्रकट करता है माना चित्र में फूला का आना ही अघटित घटना है और कवि प्रसिद्धियों के रूप में विनाशित बान ही वास्तविक सत्य है।

संस्कृत में कवि-समय और कवि प्रसिद्धि इन दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। कवि प्रसिद्धि अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है। राजनेसर न काव्य सीमासा में कवि समय शब्द का प्रयोग किया है। राजनेसर बहुभुत विद्वान् थे वे सीक पर चलने वाले आलोचक नहीं थे। उन्होंने कवि समय शब्द का प्रयोग कविता के आचार या सम्प्रदाय के रूप में किया है। इस शब्द के प्रयोग से उनका अभिप्राय यह था कि कवि लोग परम्परा से कुछ ऐसी बातों का प्रयोग करते आ रहे हैं जो लोक में घटित होती नहीं पाई जाती। अर्थात् विगुण व्यवहारों की दृष्टि से जिनकी सच्चाई सदिग्ध है परन्तु फिर भी दीर्घ बान में कविता की दुनिया में काव्य को मोहरा मान्य और मनोरंजन बान के लिए प्रयुक्त होती आ रही है। उदाहरणार्थ अनाक और वसुन्धरा के दोहों या पुण्योद्गम बानों प्रसिद्धि का ही साक्ष्य है। कालिदास जैसे कवि ने भी प्रसिद्धि का आश्रय लेकर काव्य और नाटक की रचना में उसका उपयोग किया परन्तु समय जगत् में ऐसा होने देना नहीं जाता। अब आलोचक आचार्य मानते हैं और टोक ही मानते हैं कि जो वस्तु दान बान, बान याव और आगम के विरुद्ध है और प्रतिज्ञा हेतु तथा दण्डन से समर्थित है उसका उद्देश्य दान है। तो फिर अनाक शब्द का प्रसिद्धि भी काव्य-लोक ही नहीं आणगी क्योंकि वह अरणाज के भाग का तरह बसल बान ही बान है। किन्तु राजनेसर का कहना है कि जो बान दीपकाम में कविता में साथ समझकर गूढ़ान् हानी

दण-काल में यदि व्यतिक्रम हो गया हो तो उन बातों को अग्रथाय नहीं मान लेना चाहिए।

राजशेखर प्रकृति के बड़े सूक्ष्म निरीक्षक थे उनका मत से प्राकृतिक निरीक्षण का अभाव कवि का बहुत बड़ा दोष है। उन्होंने कहा है कि कवि अनुसंधान नहीं करता उनके गुण भी दोष हो जाते हैं और जो कवि अनुसंधान करता है उसका दोष भी गुण हो जाते हैं। इसीलिए कवि को अनुसंधानप्रिय होना चाहिए। राजशेखर के कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु की ठीक ठीक सज्जीवन करनेवाला व्यक्ति कभी गलतानुगति का या अध्यानुकरण का शिकार नहीं हो सकता। उस कवि में यदि ऐसी कोई बात मिल जाय जिसका सबध में साधारण विश्वास दूसरी तरह का हो, तो संसार में कवि को ही अधिक प्रामाणिक माना जाएगा और साधारण विश्वास का गलत ठहराया जाएगा क्योंकि लोगो का चित्त में कवि की प्रामाणिकता की धाक जमा रहेगी।

अनुसंधान शूयस्य भूषण दूषणायते ।

सावधानस्य च कवेद पण भूषणायते ॥

राजशेखर ने अनेक प्राचीन काव्या का अध्ययन करके इन कवि समयों का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण अपने ग्रन्थ में उपस्थित किया है। उन्होंने लिखा है कि काव्या में जो कवि समय सुप्त की तरह पड़ा हुआ था उसे हमने यथाबुद्धि जगा दिया।

सोऽयं कवीनां समय काये सुप्त इव स्थितः ।

स साम्प्रतमिहास्माभिरपि बुद्धि विबोधितः ॥

कवि प्रसिद्धियाँ में कुछ तो ऐसी हैं जो कि वस्तुतः हाती नहीं पर कवि लोग उनका ऐसा वर्णन करते हैं मानो वह होती हैं। और कुछ ऐसी हैं जो हाती तो हैं पर कवि लोग ऐसा वर्णन करते हैं मानो वे हाती ही नहीं। और कुछ ऐसी होती हैं जिनकी होने की सम्भावना तो अनेक स्थलों पर है परन्तु कवियों की दुनिया में जिनका एक निश्चित स्थान पर जाना ही स्वीकार किया जाता है। नन्धिया में कमल या नीलकमल सभी जलाशयों में हंस हर पर्वत पर सुवर्ण, रत्न आदि का वर्णन पहली श्रेणी में आता है। हो सकता है कि कहीं नदी का पानी अवच्छिन्न हो गया हो और उसमें कमल भी खिल गया हो, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि नदी का प्रसंग आते ही कमल का वर्णन करना शुरू कर दिया जाए। परन्तु कवियों का ऐसा संप्रदाय है कि नदी में कमल के पुष्प का वर्णन करना चाहिए। कालिदास जैसे कवि इस लोभ में अपने का नहीं बचा सके हैं। मेघदूत में उन्होंने शिप्रा में खिले हुए कमल की मुग्धा स भूरभित शिप्रा वायु

का उल्लेख किया है—

दीर्घाकुप्य पटुनदकस्य कृजित सारसानां ।

प्रत्यूषस्य स्फुटित कमलामोद मयो कषाय ॥

यत्र स्त्रीणां हरति मुरतास्तानिभजानुजल

निप्रा घात प्रियतम इव प्राधनाचाटुकार ॥

इसी प्रकार वसन्त में मालती का न मिलना चन्दन के वन में पुष्प का फल का न होना आनन्द पत्र में माना गयी बातें दुनिया में तो ठीक नहीं हैं किन्तु कवि लोग ऐसा ही कहते आए हैं। इन दाना बाना को राजगण्डर की भाषा में प्रमग प्रसन्ना पि नियधनम और सनोऽपि अनियधनम कहते हैं। तीसरी श्रेणी के कवि समय के हैं जिन्हें राजगण्डर नियम कहते हैं। जो बात और दम जगह हो सकती है उस एक ही जगह बाँध देना नियम है। जैसे मकर नदी और भीन में होता है पर वनन समुद्र में ही किया जाता है। मोती बहुत स्थानों में पदा हात हैं लेकिन कवि लोग यह गौरव ताम्रपर्णी नदी का ही देते हैं। किसी कवि ने कहा है कि दुनिया में कितनी ही प्रतिष्ठित नदियाँ क्या न हों कितनी ही स्वादुजल बयो न हों और कितनी ही सीपियाँ पदा क्या न होनी हों किन्तु मुक्ता रूपी कामधनु ताम्रपर्णी को छोड़कर और कहीं पत्त नहीं होनी।

काम भवतु सरितो भुवि सुप्रतिष्ठा

स्वादूनि सन्तु सलिलानि च सूक्ष्मयन्त्र ॥

एतां विहाय परवर्णिनि ताम्रपर्णी

ना यत्र समर्पति मौखिक कामधेनु ॥

राजशेखर ने इन तीनों बातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—जाति द्रव्य और त्रिया। अब तक जाति के विषय में चर्चा हुई। द्रव्य के कवि समय भी तीन प्रकार के हात हैं। जैसे पहली श्रेणी में अधकार की मुष्टिग्राह्य या सूचीभक्ष्य बताना ज्योत्स्ना का घड़े में भरन योग्य बताना इत्यादि। द्वितीय श्रेणी में कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना तथा शुक्ल पक्ष में अधकार का वनन न करना। तीसरी श्रेणी में मलय को चन्दन का आश्रय बताना हिमालय का ही भजपत्र का स्थान बताना। इसी तरह से त्रिया सम्बन्धी कवि समयों में रात में चन्द्रबाक जाड़ा का अलग हो जाना चकोरा का चंद्रिका पान करना दूसरी श्रेणी में दिन में नील कमल का न खिलना या रात में गेफालिका कुसुमा का न भडना तथा तीसरी श्रेणी में कायल का केवल वसन्त में खिलना मयूरा का वर्षा में ही नाचना इत्यादि बातें हैं।

कवि समय का भाँति राजगण्डर न गुण समयों की भी स्थापना की है।

इन्हें भी कवि प्रसिद्धियाँ मही गिनना चाहिए। इनमें यग और हमी का सफेद होना अथवा और पाप का काला होना क्रोध का लाल होना आदि बातें ऐसी हैं जो असतोषनिवर्धन अर्थात् नहीं होनी पर होना कहा जाता है। कुछ गुण ऐसे हैं जो हात और तरह के हैं पर वर्णन और तरह से होना है। कविता की दुनिया में प्रसिद्ध है कि कुंद का कुंडमल लाल नहीं होता। फिर कमल मुकुल को हरा और प्रियंगु को पीला नहीं वर्णन किया जाना यद्यपि इनमें ये गुण मिलते हैं। मामा-यत मणि माणिक्या का रंग लाल, पुष्पो का सफेद और मेघ का काला कहा जाता है। कृष्ण नील, हरित श्याम आदि रंगों का प्रयोग एक ही अर्थ में कर लिया जाता है। पीत और रक्त को नया श्वेत और गौर को एक ही मान लिया जाता है। आँखा का वर्णन कभी श्याम कभी कृष्ण, कभी श्वेत कभी लाल और मिश्र रंग का किया जाता है। राजशेखर ने स्वर्ग और पाताल के लिए भी एक विस्तृत अध्याय लिखा है। उस चंद्रमा में हरिण और गङ्गा की एकाग्रता, कामदेव की ध्वजा में मकर और मत्स्य का ऐक्य, अभिनेत्र और समुद्र से उत्पन्न चंद्रमा का ऐक्य काम की मृतता बारह सूर्यों का ऐक्य व्याख्या की गई है। यह आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने अशोक वक्रान्त आदि की दोहड़ वाली कवि प्रसिद्धियाँ की चर्चा नहीं की। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्हें प्रसिद्धियाँ का पता नहीं था क्योंकि उनके ग्रंथ में ही इस बात का सबूत है कि वे इन बातों को जानते अवश्य थे। सम्भवतः वे इस अलौकिक या अशाम्नीय नहीं मानते थे। विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में इन बातों को भी कवि समय के अन्तर्गत माना है। वस्तुतः कवि प्रसिद्धियाँ और भी अधिक छान-बीन की अपेक्षा रखती हैं। पुराने आचार्यों ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर जितना कहा है वह महत्वपूर्ण होत हुए भी संक्षिप्त और सीमित ही है। यह नहीं समझना चाहिए कि कवि प्रसिद्धियाँ की सूची इतनी ही है। उत्तर मध्यकाल में कुछ ऐसी प्रसिद्धियाँ मिल जाती हैं जो संस्कृत साहित्य में नहीं हैं। कौच पक्षी का संकल्प से अपना अंग को पालना और उपकुतापूर्वक बार बार पहाड़ की ओर देखने के कारण उनकी गदा लम्बी हो जाना सत् साहित्य की प्रसिद्धियाँ हैं। कबीर ने कहा है—

रात्यू मूनी बिरहनी ज्यों बचों कू बुज ।

कबीर अंतर परजलया प्रगटया बिरहा पुज ॥

इस प्रकार की और प्रसिद्धियाँ हैं जो अवश्यका के परिश्रम से हाँ सगड़ीत हाँ सकते हैं।

क्या समझाया था, जिसमें वह लड़ाई लड़ने को तयार हो गया ? वह क्या वरामय का उपरान था योगमार्ग की शिक्षा थी अद्वैतवाद का लोकोत्तर ज्ञान था, भक्ति की भावुकता थी, यज्ञ याग करने की विधि थी या अहिंसक जनन की मिसावन थी ? पुराने आचार्यों ने अपने अपने ढंग से इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। लोकमार्ग तिलक ने अपनी बात किसी पूर्व ग्राहक के वशीभूत होकर नहीं कही। उन्होंने गीता के रचे जाने की पूरी परिस्थिति का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया। किस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई किस परिणाम तक उसके बक्ता और श्रोता पहुँचे क्या सद्म था, उन दिनों तक भारतीय मनीषा किन महान विचारों को दे सकी थी ग्रन्थ के विभिन्न सद्मों में कही हुई बातों की सगति क्या है इत्यादि बातों की निपुण परीक्षा के बाद वे इस निष्कर्ष पहुँचे कि गीता कमयोग शास्त्र है। गीता रहस्य में उन्होंने विस्तार के साथ इस निष्कर्ष को स्पष्ट किया है। गीता रहस्य के पृष्ठ ५१ पर वे लिखते हैं—

गीता धर्म कसा है ? वह सर्वतोपरि निभय और व्यापक है। वह सम है, अर्थात् वण जाति देश या किन्हीं अर्थ भेदों के भगडे में नहीं पड़ता किन्तु सत् योग का एक ही मापनील से सद्गति देता है। वह अर्थ सब धर्मों के विषय में यथोचित सहिष्णुता गिवाता है। वह ज्ञान भक्ति और कमयुक्त है। और अधिक क्या कह वह सनातन वैदिक धर्मवक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। वैदिक धर्म में पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञ का अर्थात् केवल कमकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था। परन्तु फिर उपनिषद् के ज्ञान से यह केवल कमकाण्ड प्रधान श्रौतधर्म गौण माना जान लगा और उसी समय सांख्य शास्त्र का भी आदुभाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनो को अगम्य था और इसका भुक्ता भी कम से पास की और ही विशेष रहा करता था। इसलिए केवल श्रौतनिषदिक धर्म से अथवा दोनों की स्मृत एकवाक्यता से भी सवसाधारण का पूरा समाधान होना सम्भव नहीं था। अतएव उपनिषद् के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगृह का संयोग करके कमकाण्ड की प्राचीन परंपरा के अनुसार ही अजुन का निमित्त करके गीता कम सब लागो से मुक्त कठ से यही कहता है कि तुम अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सांसारिक कर्तव्यों का पालन लोक सग्रह के लिए निष्काम बुद्धि से आत्मापम्य दृष्टि में तथा उत्साह से यावज्जीवन करत रहो। और उनके द्वारा हम नित्य परमात्मा देवता का सत्पूजन करो जो पिण्ड ब्रह्माण्ड में तथा समस्त प्राणियों में एकत्व से व्याप्त है। इसी में तुम्हारा सांसारिक तथा पारलौकिक कल्याण है। (पृ० ५३१)।

गीता के दूसरे अध्याय के ४७वें श्लोक के चारों चरणों को लोकमाय तिलक ने कमयोग की चतुःसूत्री कहा है। (पृ० ६६८) उही के अनुवाद के अनुसार ये चारों चरण ही नीचे इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

१—काम करने मात्र का तब अधिकार है।

२—फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार या तारे में नहीं है।

—(इसलिए तू मेरे काम का) अमुक फल मिले यह हेतु (मन में) रखकर काम करनेवाला न हो।

४—और काम न करने का भी तू आग्रह न कर।

इस श्लोक की व्याख्या करने के पश्चात् सारांग रूप में उन्होंने कहा है— सारांग काम कर कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता है कि फल की आशा रख। और फल की आशा को छोड़' कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि 'कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है कि फलांशा छोड़कर केवल य काम अवश्य करना चाहिए। किंतु न तो काम की आसक्ति में फसे और न काम ही छोड़े।

इस प्रकार गीता में अनासक्त भाव से काम के फल पाने की इच्छा न रखते हुए सबके कल्याण-काम और सेवा-काम में लग रहने की शिक्षा दी गई है। काम करते रहने में ही मनुष्य का अधिकार है फल मिलने न मिलने में विलुक्त नहीं।

लोकमाय तिलक ने उन त्रिना के नवनिश्चित भारतवासियों में इस विश्वास की जड़ पकड़ते देखा था कि हमारे प्राचीन शास्त्रकार भी ही व गूढ़ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सत्ताचरण के या नीति धर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन करना भूल गए। इसके उत्तर में वे कहते हैं 'परन्तु महाभारत और गीता के पढ़ने से यह अमूल्य सम्पदा दूर हो जा सकती है। और गीता रहस्य को पढ़नेवाला निश्चित इस भ्रम से मुक्त हो जाएगा। हमारे पराणा और महाभारत में वीर पुरुषों का चरित्र भरा पड़ा है। लोकमाय कहते हैं कि 'क्या इस इतिहास का लिखित समय उनके मन में यह विचार नहीं आया होगा कि जिन प्रसिद्ध पुरुषों का इतिहास हम लिख रहे हैं उनके मन में या रहस्य को भी प्रकट कर देना चाहिए? वे स्वयं इसका उत्तर भी नहीं हैं— इस समय या रहस्य का ही कमयोग अथवा व्यवहार शास्त्र कर्त है और इस बनाने के लिए श्री महाभारत में सूक्ष्म धर्म अधर्म का विवेचन करके अन्त में समारंभ धारण-त्यागण के लिए कारणभूत हानि-दान सत्ताचरण अथवा धर्म के मूल तत्त्वों का विवेचन माँगा।

दृष्टि को न छाड़त हुए गीता में किया गया है। अथाय पुराणा में भी ऐसे प्रमग पाए जाते हैं, परन्तु गीता के तेज के सामने अथ सब विवचन पीके पड़ जाते हैं इसी कारण भगवद्गीता कमयोग नाम्न का प्रधान ग्रंथ हो गया है। -
(प० ४६५)

गीता रहस्य में लोकमाय वाल गगाधर तिलक के अपूर्व पांडित्य, अडिग धय और अस्वलित आस्था देखकर पाठक चकित रह जाते हैं। मजेदार बात यह है कि इतना पांडित्यपूर्ण ग्रंथ माण्डने (जेल) में पसिल से लिखा गया था। माण्डने जेल में उस समय उस ग्रंथ के लेखक सरकारी कोष के शिक्कार होकर पड़े हुए थे। पुस्तक की उह कितनी सुविधा मिली होगी यह बात आसानी से समझी जा सकती है। कामा और पैसिल मिल गए थे यही क्या कम है? सबसे बड़ा सबल लेखक की स्मृति शक्ति ही थी। सरकार ने कृपापूर्वक पूना से कुछ पुस्तक का मंगा लेने की अनुमति अवश्य दी थी। लोकमाय का खेद था कि 'उस समय पुस्तक वहां (मांडने जेल में) न होने के कारण वह स्थाना में अपूर्णता रह गई थी। यह अपूर्णता वहां से छुटकारा हो जाने पर पूरा तो कर ली गई है परन्तु अभी यह तहां कहा जा सकता है कि ग्रंथ सवाग में पूरा हो गया है। परन्तु अपूर्ण ही सही, यह ग्रंथ न केवल भारतीय मनीषा की अपूर्व देन ही है बल्कि हमारे देश के कमयागिया का निरंतर प्रेरणा देनवाला सिद्ध हुआ है। साथ ही यह हम अपने महान नेता के त्यागपूर्ण जीवन की और उनके भीतर छिपी हुई अपार शक्ति को समझने की कुंजी भी देता है। गीता में कमयोगी को जिस रूप में समझाया गया है और 'गीतारहस्य' में उसकी जसी कुछ व्याख्या है उसका प्रत्यक्ष विग्रह स्वयं लोकमाय तिलक थे। निष्काम कम और समवृद्धि के दगन का उन्होंने अपने आपक जीवन में मूर्त रूप दिया था। परमात्मा को समर्पण बुद्धि से कम करनेवालों में वे अग्रगण्य थे, सत्य के लिए किसी प्रकार के कष्ट का उन्होंने कष्ट नहीं समझा वे गीतागत स्थितप्रज्ञ थे। उनकी साधना न भारतभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त किया। उनका स्मरण करके हम धन्य होंगे।

लोकमाय का सारा जीवन भगवान को समर्पित जीवन था। उन्होंने लोक सवाग जो व्रत लिया था वह उनके इसी भगवदपण भाव का साक्षात् रूप था। कम करना, जो कुछ करना वह भगवान को समर्पण कर देना फलागा का त्याग करना और सेवा-काय में एकांत भाव से जुटे रहना यही तो कम याग है। इस कमयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण उनका महान जीवन ही है।

ज्योतिर्विज्ञान

भारतीय विद्याया में ज्योतिष शास्त्र का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इसका नाम बढ़ा गया है और बढ़ाया गया है कि यह शास्त्र वेद की माता है। इसके द्वारा समय का निर्णय होता है। जिस अनु में किंग नियम को बौद्ध-या मनमाना होगा इसका निर्णय करना ज्योतिष शास्त्र का काम है। इसीलिए बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष में इस विद्या का प्रति बड़ा आदर है। शास्त्रकारों ने तो यही तर्क कहा है कि जो ज्योतिष जानता है वही वेद को जानता है।—या ज्योतिष वेद में वेद वेदम। परन्तु बहुत लोग ज्योतिष का एक अथर्वविश्वास या अधिवेद या अधिवेद अटकलपट्टन विधान मान मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ज्योतिष का नाम पर बहुत तरह की घटिया विस्म की बात जनसाधारण में मान पा रहा है, पर वे ही ज्योतिष नहीं हैं। प्राचीन भारत में यह विद्या बहुत विनियमित और विनियमित (शास्त्र) की मर्यादा की अधिकारिणी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दी में बराहमिहिर ने ज्योतिष को तीन स्वर्गों में विभाजित करके समझाया था। (१) तन्त्र या गणित स्वर्ग—इसमें प्राजक्त का एकगणित (परिधिमेट्रिक) बीजगणित (अलजबरा) रेखागणित (ज्यामिती) त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) आदि विद्याएँ भी आती हैं और करण या प्रविट्कन एस्ट्रोनामी भी आती है। इस विद्या में भारतवर्ष बहुत ही समृद्ध था। भारतवर्ष की प्रतिभा ने ही नक्षत्रमल्ल पद्धति या डमिन्स सिस्टम का आविष्कार किया था। आज यह पद्धति सम्पूर्ण संसार के व्यावहारिक गणित की नींव मानी जाती है। अरब के लोगों ने इसे भारतवर्ष से ही सीखा था। वे इस इल्म हिंदसा अर्थात् भारतीय विद्या कहते हैं। उन्होंने इस सार माध्यम में फैलाया। आज से बार्ह हजार वर्ष से भी पहले अरब में संस्कृत के अनेक ज्योतिष ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका था और बराह

मिहिर भुजाल ब्रह्मगुप्त आदि प्रसिद्ध भारतीय गणितज्ञ अरब में गये हैं।
 आचार्य माने जाते थे। (२) दूसरा स्वध है सहिता स्वध। इसमें प्राक्ते घटनाओं
 के कारण जानने का प्रयास होता था। वर्षा कब होती है क्यों होती है? चंद्रमा
 के चारा और परिधि क्या पड़ती है? भूकम्प हाने का कारण क्या है? संध्याकाल
 में आवाग क्या नाल हो जाता है? इन्द्रधनुष क्या है? इत्यादि बातों का
 आरम्भिक ज्ञान इस स्वध में मिलता है। इसमें मकान, गाय, भस, घोड़ा हाथी
 कम्बल खडग, आदि के स्वभाव और लक्षण पर विचार किया जाता था।
 अच्छे पुरुष और अच्छी स्त्री की क्या पहचान है? कौन से लक्षण शुभ हैं कौन
 से अशुभ इस बात पर विचार किया जाता था। रजन, शृगाली कुत्ता
 चामर आसन, शय्या आदि के शुभाशुभ का विचार हुआ करता था। आजकल के
 अनेक विद्वान इसमें अशुभावस्था में मिनते हैं और अनेक काफी परिपुष्ट अवस्था
 में भी। इसी स्वध में आजकल के मट्टिओलाजी जियोलाजी कपि विज्ञान
 आदि के बीज मिल जाते हैं। वास्तु विद्या का रूप भी इसमें मिल जाना है।
 परंतु सब शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल की चिन्ता इसमें प्रधान स्थान
 अधिकार रखती है। (३) तीसरा स्वध है हारा स्वध। अथान गृह नक्षत्रों
 की विभिन्न स्थितियों से मनुष्य की भाग्य गणना। आजकल एस्ट्रोलाजी इसी
 का कहना है। होरा ग्रीक भाषा का शब्द है। यह विद्या भारतीयों ने यवनाचार्यों
 अर्थात् ग्रीक विद्वानों से सीखी थी। बहुत प्राचीन ज्योतिष ग्रंथों में इसकी चर्चा
 नहीं मिलती।

संक्षेप में ज्योतिष शास्त्र के यही विषय हैं। जहां तक प्रथम दो स्वधों
 का प्रश्न है, भारतवर्ष में इनकी जड़ें काफी मजबूत और गहरी हैं। तीसरा
 स्वध बाद में आया है पर सत्सर्ग के अन्याय दशों की जनता की भांति
 भारतीय जनता को इसने भी अभिभूत किया है।

तत्र या गणित स्वध विशुद्ध और सही अर्थों में विज्ञान है। इसमें पूर्ववर्ती
 आचार्यों के मत को निरन्तर व्यावहारिक ज्ञान द्वारा सन्तुष्ट करने की
 प्रवृत्ति है। यद्यपि भारतीय चित्त आप्तवाणी को परम प्रामाण्य मानता है पर
 गणित के आचार्यों ने इस क्षेत्र में बिलकुल स्वतंत्र चिन्तन को बहुमान दिया
 है। बारहवीं शताब्दी के भास्कराचार्य, प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त की परम्परा
 में हुए थे। उन्होंने ब्रह्मगुप्त का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया
 है। परन्तु ब्रह्मगुप्त के पुराने ग्रंथों में अयनगति की कोई चर्चा नहीं है। यह
 स्पष्ट भूल है। ब्रह्मगुप्त के काल में पुराने ग्रंथों में बताये अयनसंज्ञा से शास्त्र
 की अयनसम्मान का अन्तर बहुत कम था। उन्हें उसके चलने का भाव नहीं

हुषा था। पर भास्कराचार्य के जमाने में उसका अन्तर बहुत बढ़ गया था। उसकी उम्रेंगा नहीं की जा सकती थी। यद्यपि भास्कराचार्य के मन में ब्रह्म गुप्त के प्रति बड़ा सम्मान का भाव था फिर भी उन्होंने निम्ना कि इस ज्यातिष शास्त्र में प्रत्यक्ष आकाश और तब शुद्ध बुद्धि का ही प्रमाण है क्योंकि इसमें बराबर सगोचन होने रहेंगे। अनन्त काल तक यह नहीं कहा जा सकता कि अत्र तब जो कह दिया गया वही आगिरी बात है। ब्रह्मगुप्त के समान बड़े बड़े विद्वान् निरन्तर पढ़ा होत रहेंगे और सगोचन करत रहेंगे। यह विगुड वचनानिब दृष्टि है। सदा सगोचन के लिए प्रस्तुत सदा प्रयोगों द्वारा परिणामों को जाचने की आग्रहवती। जो लोग भारतीय ज्योतिषियों की इस दृष्टि का परिचय नहीं रखत वे ही अनापानाप बका करत हैं। ये आचार्य दत्त कठ से स्वीकार करते हैं कि जो कुछ कहा गया है वह अन्तिम नहीं है। समार में धीमिस नाम की कोई चीज नहीं है। जो कुछ है वह अधिक-से अधिक हाइपाथीमिस है। आज भी क्या हम गणित ज्योतिष में अन्तिम बात जानने का दावा कर सकते हैं? निरन्तर ब्रह्मगुप्त के समानधर्मा विद्वान् पदा होत जा रहे हैं और निरन्तर पुरानी बातों को नये आलाक में देखने का प्रयास जारी है।

सभी जानते हैं कि भारतवर्ष में जाति-पाति की कसी जवदस्त पठ है। पुराना भारतीय अपने को ससार का श्रेष्ठ मनुष्य मानता था। दूसरे देश के निवासियों को वह स्तेच्छ से अधिक मानने को तयार नहीं था पर ऐसा मानना ठीक नहीं है। ससार के हर भाग में मनीषी और विद्वान् पदा होने हैं हो सकते हैं। आज का आधुनिक मनुष्य इस प्रकार नहीं सोचता। उसे यह दृष्टिप्रवर्तन ही लगती है। नई शिक्षा ने हमें एक प्रकार का उत्तार दृष्टिकोण दिया है। अब हम मनु महाराज की तरह भुजा उठाकर यह घोषणा नहीं करते कि इसी देश में पदा होनेवाले अग्रजों में मनीषियों में समार के सब मनुष्यों ने चारित्र्य और सत्ताचार सीखा है। किन्तु ज्योतिष के प्रमुख आचार्यों को यह वचनानिब दृष्टि पहले से ही प्राप्त थी। छठी सताब्दी के प्रसिद्ध ज्यातिषी बराहमिहिर ने कहा था कि यह सही है कि यवन (ग्रीक) लोग स्तेच्छ हैं। परन्तु उनमें ज्योतिष शास्त्र का अच्छा ज्ञान है। उनकी पूजा भी ऋषियों की तरह होती है फिर अगर भारतवर्ष का ब्राह्मण इस शास्त्र को जाने तो क्या बात है—

मतेच्छा ह्ययवास्त्रेषु सभ्यक शास्त्रमिदं स्थितम्

ऋषिर्वत्तेष्वपि पूज्यन्ते किं पुनर्देवविदं द्विजम् ।

इस घोषणा में आत्मसम्मान के साथ ही साथ ज्ञान की पवित्रता के प्रति निष्ठा है। बराहमिहिर ने अनेक यवनाचार्यों के मन अपने ग्रन्थों में सार उद्धृत

किये हैं।

ज्ञान के प्रति इस निष्ठा का ही परिणाम है, कि भारतीय ज्योतिषी ग्रहगणित बीजगणित, त्रिज्योणमिति आदि शास्त्रों में अपने युग के ससार के अन्य वनानिकों की तुलना में अग्रणी रहे। उन्होंने ससार के सम्य देशों से लिया भी और दिया भी। आज में लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व तक भारतवर्ष इन वनानिक विषयों में ससार भर का सम्मान पाता रहा। प्रसिद्ध अरब यात्री अलबरूनी ने भारतीय ज्योतिष विद्या की भुक्त कठ से प्रशंसा की है। अनेक सम्वृत ग्रन्थों का अरबों में भाषांतरित होना इस आदर भाव का ही परिणाम था। भारतीय विद्या अरब के माध्यम से अन्य पश्चिमी देशों में भी पहुँची है।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद सारे भारतीय ज्ञान में एक प्रकार की जडिमा का भाव आन लगा। यह भावना क्रमशः बढ़मूल होती गई कि जो कुछ अच्छा और ग्राह्य है वह पहले के आचार्यों ने कह दिया है। नये सिरे से केवल उनकी टीका लिखी जा सकती है। इस काल में राजनीतिक उथल-पुथल भी बढ़त रही। भारतीय जनता अधिकाधिक रुढ़िग्रस्त होनी गई। ज्ञान के क्षेत्र में स्वाधीन चिन्तन का अभाव होना गया। अधविश्वासा और भूतग्रहा का बोधवाला होना गया। और परिणामस्वरूप विद्या के क्षेत्र में जडिमा का संचार हुआ। ज्योतिष विद्या में भी सिद्धांत ग्रन्थों के स्थान पर आसानी से गणना करने वाला करण ग्रन्थों और सारणियों का चलन बढ़ गया। ग्रहगणित के नये संस्कारों की बात भुला दी गई और ज्योतिषी का अर्थ केवल भाग्य गणना करने वाला होता गया।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का इतिहास बहुत पुराना है। लगभग मुनि के वर्णन ज्योतिष और जन प्रागम्य के सूत्रप्रतिष्ठा आदि ग्रन्थों में इसका जो रूप मिलता है वह आरम्भिक है। बाद में इसमें क्रमशः सूक्ष्मता और गम्भीरता आनी गई है। बराहमिहिर ने अपनी पाँच सिद्धंतिका में पाँच पुराने सिद्धांतों को चर्चा की है। उनमें उन्होंने सूय सिद्धान्त को श्रेष्ठ पाया था। निस्सन्देह सूयसिद्धान्त की ग्रहगणना पर्याप्त सूक्ष्म है। कई जगहों में वह गणना आधुनिक गणना के बहुत निकट आता है। पर बराहमिहिर ने जिस सूय सिद्धान्त की चर्चा की है वह अनुना प्रचलित सूय सिद्धान्त से कुछ भिन्न जान पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि बराहमिहिर के जमाने में सूय सिद्धान्त में संस्कार होन रहे हैं। भारतीय ज्योतिषियों की वैज्ञानिक दृष्टि का ही यह फल है कि सूय सिद्धान्त जैसे ग्रन्थों पर विचार मान जानेकाल ग्रन्थों में भी संस्कार होते रहे हैं।

सहिता स्वधर्म जिन विषयों की चर्चा होती है उन्हें देखकर सहज ही उस गंभीर उत्सुकता और जिनासा का परिचय मिलता है जो भारतीय मनीषियों की प्रकृति के प्रत्यक्ष रहस्य को समझने की प्रेरणा देती है। सहितामा में विविध प्राकृतिक स्थितियों को समझने के जो प्रयास किये गये हैं वे आज के वैज्ञानिकों के लिए बहुत ग्राह्य नहीं हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले सहिता स्वधर्म की प्रगति एक गइ थी। समार के उसी काल के वैज्ञानिक विश्वासों के साथ उसकी तुलना की जा सकती है। परवर्ती काल के वैज्ञानिक विकास के साथ उसकी तुलना करना उसके साथ अयोग्य होगा। उसमें जो जिनासा और उत्सुकता है वही मुख्य बात है।

बारहवीं शताब्दी के बाद होरा शास्त्र और गुभागुभ बनाने वाले ग्रन्थों से ही ज्योतिष विद्या लुप्त गई है। आधुनिक शिक्षित व्यक्ति उनके प्रभाव और प्रसार को देखकर यह समझने लगता है कि यही भारतीय ज्योतिष है। पर यह बात केवल आंशिक रूप से ही सत्य है।

संस्कृत-साहित्य में पक्षी-वर्णन

संस्कृत साहित्य में पक्षियों की इतनी अधिक चर्चा है कि अथ किसी साहित्य में इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनों संस्कृत के काव्य नाटकों का निर्माण अपने पूरे चरित्र पर था, उन दिनों के लिए गृह और अरण्य के प्रासाद प्राण से लेकर युद्ध क्षेत्र और वनप्रस्था के आद्यम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय संस्कृत के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनायक का साथी था, रङ्गमाला का दूत था, भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था, विधोष का सहारा था, मयाग का योजक था, युद्ध का सदेशवाहक था और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं था जहाँ वह अनुपम का साथ न देता हो। कभी भवनचलभी में मोय हुए पारावत के रूप में कभी मानिनी को हँसा देनेवाले शुक के रूप में कभी अनात प्रणयिनी के विरहाच्छवास को खाल देनेवाली सारिका के रूप में, कभी नागरिका की गोष्ठी को उत्तेजित कर देनेवाले यादवा कुक्कुट के रूप में कभी भवन शीपिका (अन्तःपुर के तालाब) में मणाल तनुभङ्गी कलहस के रूप में कभी अनात प्रिय के सदेशवाहक राजहम के रूप में, कभी चूत-कपाय-कठ से विरहिणी के दिल में हूँक पदा कर देने वाले कोकिल के रूप में, कभी नूपुर की भकार से क्रकार ध्वनिकारी सारम के रूप में कभी ककण की स्नभुन से नाच पड़नवाले मयूर के रूप में कभी चन्द्रिकापान से मदविह्वल होकर मुग्धा के मन में अपरिचित हलचल पदा कर देनेवाले चकोर के रूप में वह प्रायः इस साहित्य में पाठक की नज़रों में टकरा जाता है। इन पक्षियों को संस्कृत-साहित्य में से निकाल दीजिए फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य को जिन्होंने इतना मजबूत कर रखा है इतना सरस बना रखा है उनके विषय में अभी तक हिन्दी में कोई विशेष उल्लेख-योग्य अध्ययन नहीं हुआ है यह हमारी उदासीनता का पक्का प्रमाण है।

महाभारत में एक पानी के एक मनुष्य से कहा गया कि मनुष्य पीने पानियां
 में सम्मिश्रण भी हो सक्त है—भक्षण का सम्मिश्रण घोर त्रीहा का सम्मिश्रण । अर्थात्
 मनुष्य का तो पानियां को पाने के काम में सक्त है या उन्हें पकाकर उनमें
 मांस-पिण्डों मिला करगा है—घोर कोई भीतर सम्मिश्रण इन शोभा में नहीं है ।
 एक वध का सम्मिश्रण है घोर दूसरा वध का । परन्तु समस्त सम्मिश्रण-मांस
 घोर स्वयं महाभारत दण्ड मान का गुरू है कि एक तीव्र सम्मिश्रण भी है ।
 यह प्रेम का सम्मिश्रण है । अंतर तथा त हीनता का समन प्रेम पर विराजमान
 यत्नाया (यत्न-निरति), जो मरकतमणि के पान में रगी हुई गगन पुष्पित के
 समान पीया रहो है अन्तर्गत मानव हृदय में मान-प्राप्त न कर सकना । तथा
 निरन्तर पयत-व्याज जब कदाचित् गयीं में जन-वाग करती हाना, ता दूर में
 एक-दूसरे का पुकारा मान घटशक दम्पति के प्रति अत्युत्तम कृपावतीन हो जानी ।
 मान में सहस्रों हृदय सुगमनाया से सम्पुष्पित घोर त्रीहा पानी के मन्त्र-निरा
 से मुगधित गोमाला वारा के मान मनुष्य के दिल का इतना घबलन न कर
 सकत । घोर त एभी तनियों जिनकी कांछी प्रीति की श्रेणी है जिनका कसम्यन
 वन-हमा का रिता है जिनकी साठी जलधारा है जिनका मान के आभरण
 तोरद्वय के पुण है जिनका श्रेणी मण्डल जमम्यन का सगम है जिनका उरस्य
 उन्नत पुनित है जिनकी सुमनाय मधनी है एभी नदिया के तट पर ही
 दयता रमण कर सकत है—यह बात ही मनुष्य के मन में घातनी ।

साधारणतः सम्मिश्रण-कवि का वननीय भल्ल पुर धनी घोर राजवर्गीय पुरुषा

१ अक्षाय क्रीडनाय या नरा वाञ्छति पक्षिणम् ।

भतीयो नास्ति सयोगो यथयथादत्ते क्षमः ।—म०भा० भातिपद, १३६ ६०

२ उमणिच्छल जिष्णवा भित्तिणी पक्षिणि रेहइ बसाया ।

णिम्मल मरगम मागण परिडिमा सत्त सुत्ति व्व ।।—हास सत्तसई, १४

३ निनाय साज्जयन्त हिमोत्करानिता सहस्र रात्रीरुदवात् तत्परा ।

परस्परा कदिनि चक्रवाकयोमिषा विपुवने विपुने कृपावती ।

—कुमारसम्भव, ५ २६

४ प्रभूतगालिप्रसवश्चित्तानि मगागनायुषविभूषितानि ।

मनोहर क्रीचनिनादितानि सीमा तराण्युत्पुङ्गवन्तिकेका ।

—अनुसंहार ३

५ क्रीचकांचीरनापाञ्च कलहस कलहया ।

नक्षत्रोद्योगकामन गफरीकृतपेखला

का ही होना था क्योंकि संस्कृत काव्य नाटक आख्यायिका आदि के नायक और नायिकाएँ प्रख्यातवशीय और घनाढ्य हुआ करती थी। इसीलिए संस्कृत काव्य के अत पुर का ठाट बाट बहुत ही विपुल और चित्ताकर्षक है। इन अत पुरों और इनमें रहने वाली अत पुरिकाओं का वर्णन संस्कृत कवि बड़ी शान शोक्त के साथ करता है। अत पुर के पशिया के विषय में अध्ययन आरम्भ करने के पहले अत पुर की बनावट समझ लेना बहुत जरूरी है। प्रत्येक घनाढ्य नागरिक के घर के साथ उसका अत पुर रहा करता था जहाँ बड़े बड़े पहरे की व्यवस्था रहती थी। अत पुर से लगी हुई एक वक्त्र-वाटिका (या गह-उपवन) हुआ करती थी। इसके बीच में एक दीघिका या तालाब की व्यवस्था रहती थी। इस वाटिका में फलदार वृक्षों के सिवा पुष्पा और लता कुजों की भी व्यवस्था रहा करती थी। गह स्वामिनी अपनी रघनगाला के काम लायक तरकारियाँ भी इसी वाटिका के एक अंग में उत्पन्न कर लिया करती थी। वात्स्यायन की कामसूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वह इस स्थान पर मूलक (मूली), आलुक (कंद आदि) पलकी (पालक) दमनक (दवना) आम्रानक (आमड़ा) ऐवसिक (पूटी) नपुष (खीरा), वार्त्ताक (वगन) कुम्माण्ड (सफेद कुम्भे) अलावु (कंदू) सूरण (सूरन) गुक्तामा (अगस्ता) स्वयगुप्ता (कैलाछ), तिल, पणिका (शाक) अग्निमथ (?) नपुन पलाण्डु (प्याज) आदि साग भाजी बोती थी। इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष आज से दो हजार वर्ष पहले जो साग भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग भाजियों के साथ यमसाल भी गहदेवियाँ स्वयं तैयार कर लेती थी—जोरा सरसा जवायन सौंफ तेजपान आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुजक (= मालती ?) आमलक (?) मल्लिका (बेला), जाती (मालती और भावप्रकाश के मत से चमेली), कुरण्टक (कटसरया), नवमालिका तगर जपा आदि के पुष्पा के गुत्तम भी लगाया करती थी (पृ० ३२५)। वक्त्रवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड़ छायादार

फुल्लतीरद्रुमोत्तसा सगमधोणिमण्डला

पुलिनाम्बु नतोरस्या हसहासाश्च निम्नगा ।

वनोपात नदीशलनिशरोपात भूमिपु ।

रमते देवता नित्य पुरेषुद्यान वत्सु च ।

—ब्रह्महिता ४ ६—८

१ इस लेख में सबसे चौथी सीरीज में छपे कामसूत्र की ८६३ महाराएँ दी हुई हैं।

यूग—जगन्मोह, धरिद्र, पुनः गिरिगच्छा—सगाय जात थ। यह स्मृति (१२. १) में बताया गया है कि यका माग्य होत है इमलिए इनको पर या उद्यान क पूव भाग म रोपण करना चाहिए। उद्यान क सीचाओव गृह नीपिका या सासाय रहा करता था। इन तानाया म नाना प्रकार क जल पानियों का रहना मंगलजनक समझा जाता था। इनम कृत्रिम भाव स कमलिनी या नलिनी (पत्र पुष्प-मन्त्रि कमल यूग) उत्पन्न की जाती थी। यरा मिहिर ने गृहसंहिता (१६. ४७) में लिखा है^१ कि जिम सरायर म नलिनी-प्य छत्र म सुप विरणो निरस्त हानी हैं हग के कथा मे धक्की हुई लहरिया कन्ठाराम टकराती हैं हस कारण्डव क्रीच और चक्रवाकगण कन निना करत रहत हैं और जिसके तटान्त की पत्र कनछाया म जलचारी पक्षी विधाम करत हैं, ऐसे सरोवर के निकट दवनागण प्रसन्न भाव म विराजते हैं। इन वापिया म विविध पक्षिया के निवास का नाना भाँति से कवियों ने वर्णन किया है। कहा वाटिकाया म वाग्ययायन न लिखा है कि सपन छाया म ब्रेड गानोना या झला सगाया जाता था इही म पथर की स्थडित पीठियाँ (बैठन क आसन) बनाय जात थ और उन पर सुकुमार पुष्प-वन बिछा न्य जात थे (प० ४५)। मवन-नीपिका के एक पांच म श्रीठा-भवत हुआ करत थे जिनके इगि म मरु मडगान रहत थ। यही मत्त पुरिकाँ नाना भाँति की विलास लीलाएँ करती थी। दीपिका म और मयत्र धारायत्र या फवार वन हाने थे जिनम कभी जल-वृताभा क और कभी हस मियुन या चत्रवाक मियुन क जोडे वन होत थ जा जल धारा का उच्छ वनित करते रहते थे। मत्तफापुरी म मघदूत की मणिणी के मत्त पुर म एक ऐसी ही वाटिका थी जिसम मग प्रिया न एक छाटे स मदार वक्ष को—जिसके पुष्परतवक हाथ की पहुँच क भीतर ही थे—पुनवत पाल रखा था।^२ इस उद्यान म मरकत मणियों की सीसीवासी एक

१ सर मुनलिनोच्छ्रय निरस्त रविरश्मिषु ॥

हसासाक्षिप्त कहलार घोघी विमल वारिषु ।

हस कारण्डव क्रीच चक्रवाक विराविषु ।

पयत्त निचुलच्छाया विध्यात्त जलचारिषु ॥

२ तत्रागार धनपतिगहादुत्तरणास्मदीय ।

दूरालक्ष्य त्वदमरधनुश्चादणातोरणन ।

यस्याद्याने कृतकतनयो वधित कातया मे ।

हस्तप्राप्यस्तवक नमितो बालमदारवक्ष । ८०

वापी थी, जिसमें बहूमणि के वन हुए नालों पर हम-पक्ष प्रस्फुटित हो रहे थे और हंस विचरण कर रहे थे।^१ इसी वापी के तीर पर एक शीड़ा-मयत था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और वनक बदली से वेष्टित था। वाग्मिवा के मध्य भाग में रक्त-अक्षर और अक्षुल के वक्ष थे एक प्रिया के पद्माघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल हान की आकाशा रचना था।^२ इनका वेडा कुरवक या पियावसा की झालिया का था। ठीक बीच में एक सोने की वाम यष्टि पर, स्फटिक की पीनी थी जिस पर यक्ष प्रिया का वह भयूर बँठा करता था, जिस वह अपनी चूड़ियों की मञ्जुध्वनि से नचाया करती थी।^३ बहुत भीतर जाने पर यक्ष प्रिया के शयन कम के पास पिंजड़े में मधुरमापिणी मारिका थी जिससे गायन वह अपने प्रिय के विषय में पूछा करती थी।^४ वाणभट्ट की कादंबरी में अन्तपुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जोषित वणन है। उस वणन से जान पड़ता है कि कादंबरी की विविध परिचारिकाएँ किन कार्यों में व्यस्त थी। वस्तुतः समस्त संस्कृत साहित्य में अन्तपुर वणन के प्रसंग में इन बातों का अन्वाधिन विस्तार रहता है। अन्तपुर के सबसे भीतरी हिस्से में काई लवलीका केनकी (केवड़े) की धूलि से लबली (हरफारेवरी) के आलबाला को सजा रहीं थी। कोई सागरिका गघ-जल की वापिया में रत्न बालुका निक्षेप कर रही थी कोई मणालिका कृत्रिम कमलिनिया का यत्र

१ वापी चास्मिन् मरकतशिलावद्ध सोपानमार्गा

हेम स्फीता विरच कमलदोष वडूपनाल

यस्यास्तोये कृतवसतयो मानस सति कृष्ट ।

नरध्यास्यति व्यग्रगत गुचस्त्वामपि प्राप्य हसा । ८१

२ रक्तान्गोकचल किसलय-केसरश्चात्र का त

प्रत्यासन्नो कुरवक वृते माधवोमण्डपस्य ।

एक सस्यास्तव सहमया वामपादमिलापी

काक्षत्पयो वदनमदिरा दौहदच्छदमनास्या । ८२

३ तमध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीयास यष्टि—

मूले बद्धा मणिभिरनति प्रौढवश प्रकाश ।

ताल शिखरलय सुभग का तथा नतितो मे ।

यामपास्ते दिवस विगमे नीलकण्ठ सुहृद व । ८३ — — —

४ पृच्छतीं वो भयुरवचना सारिका पञ्जरस्वोपि

वदिचद भितु स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति ।

घनवाक। के ऊपर कुकुम रेणु पेंच रही थी कोई मसरिका कपूर-गन्धक व रस से गंध-नात्रा को सुवासित कर रही थी। काई रजनिवा तमाल वीचिका के अधवार में मणि प्रदीपा को रख रही थी। काई कुमुदिना पत्तियां व निवारण के लिए दाढ़िमी फलों को मुस्ताजाल से झगड़ कर रही थी। काई निगुणिका मणि की पुतलियां व वग्नस्थल पर कुकुम रस से चित्रकारी कर रही थी। कोई उत्पलिका कदली-गृह की भरवत-वन्धिकाओं को साने की समाजनी (भाटू) से साफ कर रही थी, कोई कसरिका बकुल-कुमुम माला गृह को मस्त्रि रस से सींच रही थी और कोई मालतिका कामदधगृह की हाथीनौन की चलभिका (मण्डप) को सिंदूर रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ दरिद्र तखनी धारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम बवल प्राप्त पाठकर देखते हैं कि मधुमक्खिया के छत्ते से भी अधिक व्यस्त निवने बाल इस अन्तपुर के व्यापारा का अर्थ क्या है? तब कुछ समझ में आने लायक बातें भी हैं। वहाँ काई नलिनिवा भवन के कल हंसों को कमल मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरा को घारा-गृह या पंचारो के पास ले जा रही थी—दायद नचाने के लिए।—कोई कमलिनिका चक्रवाक नाविका को मृणाल धीरे रस दे रही थी। कोई कोकिला को आभ्रमजरी का अकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल बिसलया का चुन चुनकर भवन हारीता को खिला रही थी। कोई लवणिका चकोरो के पिंजड़ा में पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी। कोई मधुरिका पुष्पा के आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्तपुर पत्तियों की सेवा में व्यस्त था। सबसे भीतर वचनमुखरा सारिका (मना) थी और विदग्ध शुक था जिनके प्रणय-कलह की निष्ठा पूरी हो चुकी थी और चद्रापीड के सामने अपना वदग्ध विलास प्रकट करके जिस सारिका ने कान्ध्वरी के अधरो पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी।^१

१ कादम्बरी पृ० ३३५ और आगे। इस लेख में सवत्र निगद्य सागर प्रस (पण्ठ संस्करण १९२१) की कादम्बरी से उद्धरण दिये गये हैं।

अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य

अपभ्रंश भाषा का नाम तो बहुत पहल से सुना जाता रहा है पर बहुत काल तक इसके साहित्य की जानकारी कम ही थी। सन ईसवी की बीसवीं शताब्दी में ही इस भाषा के विस्तृत साहित्य का विशेष रूप से उद्धार हुआ है। सन १८७७ ई० में सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री जमन पण्डित पिशेल ने 'प्राकृत भाषा का व्याकरण (ग्रामटिक डेर प्राकृत इप्राखेन) लिखा था जिसमें हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण का बहुत अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया था। अब भी यह पुस्तक प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिए उतनी ही महत्वपूर्ण बनी हुई है जितनी उस समय थी। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अंत में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बताने के लिए ऐसे दोहे उद्धृत किए हैं जिनमें अमीष्ट नियमों के निर्देशक पद आए हैं। पिशेल ने अंग प्राकृता के साथ अपभ्रंश का भी विवरण किया था। बहुत बाद में, सन १९०२ ई० में उन्होंने केवल अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य के लिए ही एक अलग पुस्तक लिखी। मामूली और दण्डी (७वीं शताब्दी) के समय में अपभ्रंश का साहित्य बतमान था यह सभी जानते हैं। बाद में रुद्र राजशेखर भाज आदि अलंकार शास्त्रियों ने अपभ्रंश भाषा की चर्चा की है। इसलिए पिशेल यह तो समझ ही गए थे कि इस देश में किसी समय अपभ्रंश का विनाश साहित्य विद्यमान था इसीलिए उन्होंने तत्कालीन उपलब्ध साहित्य में से अपभ्रंश की रचनाओं को ढूंढने का बहुत अच्छा प्रयास किया। हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरणों जो दोहे उद्धृत किए गए हैं उनके अतिरिक्त विक्रमोदगीय सरस्वतीकथाभरण मिहासनद्वित्रिंशतिका वृत्तालपचविंशति प्रवर्धचिन्तामणि आदि ग्रंथों में उपलब्ध बिलंबी ८

का भी उद्धान सकलन किया। सन १६०२ में माटेरियलियन न सुर कैंटनिम डेस अपभ्रंश नामक जिस ग्रन्थ में इन अपभ्रंश सामग्रियों का विवचन किया गया था उस उद्धान अपने मूल प्राकृत व्याकरण का परिशिष्ट कहा था। इसके बाद उनका स्वगवास हो गया। पिगेल अपभ्रंश के पाणिनि कह जा सकत है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व क्षमता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा है कि यह विद्वान कौी पाणिनिस्मृत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था। मुनिजी ने कई अपभ्रंश और प्राकृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संपादन किया है। पउमसिरि चरिउ नामक अपभ्रंश काव्य की भूमिका में उन्होंने अपभ्रंश के नवोपलब्ध साहित्य के प्रकाशन में आने की मनोरंजक घटना का विवरण दिया है। निस्सन्देह अपभ्रंश साहित्य के नये सिरे से विपुल मात्रा में प्राप्त होने की सूचना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण और उत्साहवर्द्धक घटना है। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास बना रहा कि पिगेल ने अपभ्रंश साहित्य का जो परिचय दिया है उससे अधिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। सन १६१३ १४ ई० में हरमन याकोबी नामक जन्मास्थलमन जर्मन पण्डित इस देश में आए। जब वे अहमदाबाद के जन ग्रन्थ भांडार का निरीक्षण कर रहे थे उसी समय एक जन साधु के पास उन्हें 'भविसयत्त' कहा नामक काव्य देखने का मिला। इसे प्राकृत में ही लिखा समझा गया था। पर जब याकोबी ने उस देखा तो उल्लास से फड़क उठे। यह वस्तुतः अपभ्रंश का काव्य था। इन्हें ही राजकोट में एक अन्य जनमुनि से नेमिनाह चरिउ भी प्राप्त हुआ। भविसयत्त कहा की प्रतिलिपि और फोटो प्राप्त करने में याकोबी को बड़ी कठिनाई हुई थी। वे हताश हो गए। इन ग्रन्थों की प्रतिलिपि लेकर वे अपने देश को चले गए। तब तक योरोपीय प्रथम महायुद्ध का विगुल बज गया। इन ग्रन्थों के प्रकाशन का काम बंद हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद ही सन १८१८ ई० में याकोबी द्वारा संपादित भविसयत्त कहा का प्रकाशन हो सका। तीन वर्ष बाद नेमिनाह चरिउ की एक अन्तकथा सणकुमार चरिउ का याकोबी द्वारा संपादित रूप प्रकाशित हुआ। उधर युद्ध के धुएँ से याकोबी का परिश्रम आच्छादित हो रहा था इधर बड़ौता के महाराज सर सयाजीराज गायकवाड की आचार्य मने १६१४ ई० में श्री चिमनलाल डाह यामार्द दलाल ने पाण्डव के सुप्रसिद्ध जन भाण्डार की जाँच की और कई पुस्तकें पसंदी प्राप्त की जा अपभ्रंश भाषा में लिखी गई थी। मदनरामन बय्य स्वामि चरित अंतरंग-मधि चौरंगमधि सुससादयान, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश आराधना मयण्डा सति

नमया सुन्दरी सधि भविष्यत् कहा, पउमसिरि चरित आदि ग्रंथ इसी समय मिले। इनमें से कई एक अब प्रकाशित हो गए हैं। श्री दलाल ने भविष्यत् कहा का सम्पादन भी आरम्भ किया, लेकिन अचानक सन १९१८ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया। बाद में स्व० पाण्डुरंग गुणे ने इसे पूरा किया। यह सम्स्करण भी बड़ोदा से प्रकाशित हो गया है। बहुतेरे ग्रंथ भाण्डार में अपभ्रंश की रचनाओं को प्राकृत मान लिया गया था। सन १९१८ ई० में जब भाण्डार कर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की स्थापना हुई और डेकन कॉलेज में सुरक्षित हस्तलेख उसमें स्थानान्तरित किए गए तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजयजी की जन हस्तलेखों के परीक्षण का अवसर मिला। उस समय उनके महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रंथों का पता लगा। पुण्डरीक कवि का 'तिसठि लखण महापुराण', स्वयंभू का पउम चरित, हरिवंश महापुराण आदि बहुमूल्य ग्रंथ प्राप्त हुए। स्व० प० नाथूरामजी प्रेमी ने वान म जमहर चरित और 'कुमार चरित' नामक दो अपभ्रंश ग्रंथों का संधान बताया। प्रो० डॉ० हीरालाल जैन ने 'कारजा' के भाण्डार से 'करकडु चरित', 'सावय धम्म दोहा' 'पाहुड दोहा' आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों को खोज निकाला। फिर तो विभिन्न शोध-प्रेमियों ने परिश्रम से अपभ्रंश साहित्य के विपुल भाण्डार के अनेक ग्रंथ खोज निकाले। अनुसंधान संपादन और व्याख्या की जिनमें श्री मुनि जिनविजयजी आचार्य उपाध्य हीरालाल जैन परशुराम लक्ष्मण वद्य राहुल साठ्यायन हरिवंशभाषाणी आदि उल्लेख्य हैं।

अभी तक जिस साहित्य की चर्चा की गई है वह जैन स्रोतों में प्राप्त हुआ साहित्य है। स्वभावतः इनमें अधिकांश जन कवियों की रचनाएँ हैं। एकमात्र अपवाद सन 'रासक' है जो किसी अदृष्टमान नामक जुलाहा कवि का लिखा हुआ 'रासक' सनक खण्डकाव्य है। उसका प्रतिपाद्य विषय ऐहिक रस या लौकिक शृंगार रस है। शृंगार रस में भी विप्रलम्भ। बाकी जन कवियों की रचनाएँ हैं। ऐसा तो नहीं है कि उनमें ऐहिक रस हो ही नहीं पर मुख्य लक्ष्य जन धर्मसम्मत किसी जीवनोद्देश्य का प्रचार है। निम्नोक्त उसको बहाना बना कर उत्तम रसपरक साहित्य इसमें मिल जाता है। जन रचनाओं में सगर्भ कविताएँ ऐसी भी हैं जो विगुह लौकिक शृंगार या नीति विषयक हैं। वे आभास देती हैं कि बहुत बड़ा साहित्य इस श्रेणी का भी रहा होगा। प्रबोध चिन्तामणि, प्रबोधकोश पुरातन प्रबोध-संग्रह आदि में शृंगार रस के बहुत सुन्दर मुक्तक प्राप्त होते हैं और स्वयं हेमचन्द्र के व्याकरण में उच्च कोटि के शृंगारी दाह उदाहृत हुए हैं।

जनतर संप्रदायों के अपभ्रंश-व्याख्य नाना कारणों से सुरक्षित नहीं रहे सब

का भी उद्धाने सफल किया। सन १६०२ में भाटखिलियन ने सुर कटनिस इस अपभ्रंश नामक जिस ग्रंथ में इन अपभ्रंश सामग्रियों का विवचन किया गया था उस उद्धाने अपने मूल प्राप्त व्याकरण का परिशिष्ट कहा था। इसका बाद उनका स्वयंवास हो गया। पिछले अपभ्रंश के पाणिनि कह जा सकत है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व क्षमता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा है कि यह विद्वान कही पाणिनिस्मृत आखिल नामक व्याकरण का पुनरुत्तार तो नहीं था। मुनिजी ने कई अपभ्रंश और प्राप्त के महत्वपूर्ण ग्रंथों का संपादन किया है। पञ्चमसिरी चरित नामक अपभ्रंश का एक की भूमिका में उद्धाने अपभ्रंश के नवोपलब्ध साहित्य के प्रकार में आने की मनोरंजन घटना का विवरण दिया है। निस्संदेह अपभ्रंश साहित्य के नये सिरे से विपुल मात्रा में प्राप्त होने की सूचना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण और उत्साहवर्द्धक घटना है। यन्त तब तक लोग का यह विश्वास बना रहा कि पिछले न अपभ्रंश साहित्य का जो परिचय दिया है उससे अधिक अब प्राप्त नहीं है। सन १६१३ १४ ई० में हरमन याकाबी नामक जर्मन पण्डित इस देश में आए। जब वे ग्रहमन्त्रालय के जन ग्रंथ भण्डार का निरीक्षण कर रहे थे उसी समय एक जन माधु के पास उन्हें 'अविगयन्त' कहा नामक काव्य दाने का मिला। यह प्राप्त में ही लिखा समझा गया था। पर जब याकाबी ने उस दाना को उल्लाम में फेंक दिया। यह वस्तुतः अपभ्रंश का काव्य था। इस ही राजकाज में एक अन्य जनमुनि से नेमिनाह चरित भी प्राप्त हुआ। अविगयन्त कहा की प्रतिनिधि और पाठो प्राप्त करने में याकाबी का बड़ी कठिनाई हुई थी। वे हड़बड़ी थे। इन ग्रंथों की प्रतिनिधि तब से अपना रूप को बन गए। तब तक योरापाय प्रथम महायुद्ध का शिकार बन गया। इन ग्रंथों के प्रकाश का काम बन्द हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद ही सन १८१८ ई० में याकाबी द्वारा मयान्ति अविगयन्त का प्रकाश हो सका। तीन वर्ष बाद नेमिनाह चरित का एक अन्य कथा गणेश्वर चरित का याकाबी द्वारा मयान्ति रूप प्रकाशित हुआ। उपर युद्ध के धुल में याकाबी का परिश्रम धाँसा हुआ था। इसी वर्ष बंगाल के मन्तराज सर मदनमोहन मालवीय का आगमन सन १८१८ ई० में था। विद्वत्ताय का याकाबी के पास न पाया के सुप्रसिद्ध इन ग्रंथों का ज्ञान का और कई पुस्तकें जमी प्राप्त का जो अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ था। मदनमोहन, कस स्वामि चरित मदनमोहन, योगमोहि सुप्रसिद्धान आदिकी मदनमोहन परमाण्वप्रकाश द्वारायता, मदनमोहन माल

नमो मुत्तरा भवि, भविमयन कहा, पञ्चमपिरि चर्चि आदि ग्रन्थ इसी समय
मिले। इनमें से कई एक ग्रन्थ प्रकाशित हो गए हैं। श्री त्याग ने 'नविनयन
का सम्पादन भी आरम्भ किया, लेकिन ग्रन्थानुसन्धन १९१८ ई० में उनकी
मृत्युवादा हो गया। बाबू म. स्व० पाण्डुरंग गुप्ते ने इस पूरा किया। यह
सम्पूरण भा. वगैरा म. प्रकाशित हो गया है। उत्तर ग्रन्थ-भाषा में अनेक
की रचनाओं का प्राकृत मान लिया गया था। उन १९१८ ई० में जद भाषा-
कर रसिच इन्स्टीच्युट की स्थापना हुई और डेकन ब्रिज में मुनिविरचित
उपमं स्थानान्तरित किए गए तो सुप्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविक्रमजी को जैन
हस्तलेखा व परीक्षण का अवसर मिला। उन समय अनेक मन्त्रवृत्त अनेक
ग्रन्थों का पता लगा। पुष्पदन्त कवि का 'निमग्न लक्ष्मण महापुराण', स्वयम्भू
का पञ्चम चरित' हरिवंश महापुराण आदि बहुमूल्य ग्रन्थ प्राप्त हुए। स्व० पं०
नाथरामजी प्रसाद ने व. म. 'जगद्गुरु चरित' और 'हृमाचल चरित' नामक दो
अध्याय 'ग्रन्थों का सुधान बताया। प्रो० डॉ० शैलानन्द जैन ने 'गर्जा व
भणारस करकड चरित' 'मौवय घम्व गहा' 'पाण्य दोग' आदि मन्त्रवृत्तों
ग्रन्थों को खोज निकाला। फिर वा. विमल भाष-प्रेमियों ने परिश्रम में अनेक
साहित्य के विपुल भण्डार व अनेक ग्रन्थालों का अनुसन्धान, सुनादन और
व्याख्या की जिनमें था मुनि जिनविक्रमजी आदिनायक, द्वाध्य, शैलानन्द जैन,
परशुराम लक्ष्मण वर रावण साहित्यनन्दन आदि उल्लेख्य हैं।
अभी तक जिस साहित्य की खोज की गई है, वह है—

[illegible]

जनर सप्रतापः क प्रसन्नः अ नमः

की रचनाएँ ही अधिष्ठ हैं। इन जन रचनाओं में प्रधानता चरित काव्या की है। इन कवियों १ पुराण, चरित श्रीर काय में बहुत से नहीं मिया है। जन लोगान ६३ महापुरुषों का गुणगान मिया है। इन्हें त्रिपट्टि शलाना

(८) पदमकीर्ति का पामुपुराण	११वीं शती
(९) सागरदत्त का स्वामि चरित	११वीं शती
(१०) विद्युधरो का पामु चरित	१२वीं शती
(११) हरिमद्रसूरि का जेमिणाह चरित	१२वीं शती
(१२) सिद्धमेन (साधारण) की विलासम्बर्द्ध कहा	१२वीं शती
(१३) मुनि कनकामर का करकडु चरित	१२वीं शती
(१४) रङ्गू का पञ्जुण चरित (प्रद्युम्न चरित)	१२वीं शती
(१५) लक्ष्मण कवि का जिणन्त चरित	१३वीं शती
(१६) धम सूरि का जम्बू सामि रास	१३वीं शती
(१७) विनय धम सरि का नेमिनाथ चउपई	१३वीं शती
(१७) महारथ यग कीर्ति के पाण्डव पुराण	
(१८) चदम्पह चरित	१४वीं शती
(१९) जिन प्रम सूरि के मल्लिनाथ चरित	
(२०) नेमिनाथ जम्माभियक	
(२१) धनपाल का बाहुबली चरित	१५वीं शती
(२२) शम्भुकीर्ति का सात्रिणाह चरित	१५वीं शती
(२३) रङ्गू के मेहेसर चरित (२४) पदमपुराण	१५वीं शती
(२५) सिद्ध चक्क माहात्म्य (२६) कटकडु चरित	१५वीं शती
(२७) जयकुमार चरित (२८) जिनदत्त चरित	
(२९) बलमद्र चरित इत्यादि	१५वीं शती
(३०) तेजपाल का सम्भवणाह चरित	
(३१) भाणिवरराज का नायकुमार चरित	१६वीं शती
(३२) महीन्दु का सात्रिणाह चरित	१६वीं शती
(३३) जयमित्र हल्ल का बहुमान कपु	१६वीं शती
(३४) दामोदर का चदम्पह चरित	
(३५) ब्रह्मदेव सेन का जय कुमार चरित	
(३६) मन्तरा चरित (१४वीं शती)	१६वीं शती
(३६) धवल का पञ्चमतिरि चरित इत्यादि	

पुरप' कहा है। इनमें २४ तीर्थकर हैं १२ चन्द्रवर्ती हैं ६ बलदेव हैं ६ तामुदेव हैं और ६ प्रतिवामुदेव। इन्हीं में न किसी एक को लेकर लिखा हुआ काव्य चरित कहलाता है और सबकी चर्चा करनेवाला काव्य महापुराण कहलाता है। पुष्पदन्त की एक रचना का नाम महापुराण भी है और तिसट्ठि, महापुरिम गुणालकार भी। पद्मचरित 'राम की कथा है और हरिवंश पुराण कृष्ण की। श्री हरिवल्लभ भायाणी ने पञ्चमसिंह चरित की भूमिका में लिखा है कि स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित काव्यों में बहुत अंतर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से सधिया की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है जबकि चरित काव्यों में विषय विस्तार बहुत मर्यादित होता है जिससे सधिया-संख्या बहुत अधिक नहीं होती। शेष बातों में—जैसे सधिया कडवक, तुक, पवित्रयुगल, आदि का दोना में कोई भेद नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि सभी चरित काव्य कडवक-वद्ध ही हों। हरिभद्रकृत 'पेमिणाह चरित' आद्योपात्त रहूँ छन्द में है। मो पुराण, चरित और काव्य सभी प्रसिद्ध पौराणिक चरितों को आश्रित करके लिखे चरित काव्य ही हैं। तथा अवश्य इनसे थोड़ा बाहर पड़ती है पर सदा नहीं। जैसे अपभ्रंश काव्यों में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो किसी वणिज कुमार या कुमारी के जीवन पर लिखी प्रेमगाथा की कोटि में आती हैं पर तु उद्देश्य उनका भी पाठकों को जैन धर्म की ओर आकृष्ट करना होना है। इन सब को हम प्रबन्ध-काव्य जैसा सामान्य नाम दे सकते हैं। इनमें मानवीय गुणा की, उनकी आशा आकांक्षाओं का राग विरागों की सबल अभिव्यक्ति तो हुई है पर सब कुछ अंत में वराह्य प्रवण धर्म की ओर उन्मुख होने का साधन बन जाते हैं। इस प्रकार के जन प्रबन्ध-काव्य तीन दर्जन से ऊपर प्राप्त हो चुके हैं और अब भी बहुत-से भाण्डारा में अनान पड़े हुए हैं। इनके रचयिताओं में सब प्रेष्ठ हैं—स्वयम्भू और पुष्पदन्त, तथापि स्वयम्भू।

धर्म के गूँ तन्वा को सामान्य जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य में मन्त्रमान में ब्राह्मणों और जना द्वारा पुराण साहित्य की रचना हुई थी। जन पुराण मत्स्यक प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीनों भाषाओं में लिख गए हैं। पुराण-साहित्य में उत्तम कवि व बिखरा हुआ है। पर वही मनुष्य के दुःख-गुण, राग विराग सफलता धर्मफलता को उद्देश्य विनोद के अधीन होना पड़ता है। हमका परिणाम यह होता है कि समूचा कवि-कर्म पौराणिक मूल उद्देश्य का साधन बन जाना है और सुकाव्य नियोजित मानवीय व्यापार अतएव ह्वत्तम और नियंत्रित हो जाता है। भारत में उसमें जितना तेज रहता है वह हमारा पौराणिक मन्त्रियों

जिना जात सो एसा मरणा रि मर जिगी भाग भिन्न मा रिगमागी भवत वा
रमता है। उपाहरणार्थ—

हेतु म हेतवे मटु तिमल मटु मरनि मटु विति ।
असत निरजन भाग धनु गित संडित समविति ॥

धर्मात्

हेतु म हेतविति मरि गिमा मरि चरन मरि विति
असत निरजन भागधन तिव सविमन समविति ।

योद्धा गिद्धा की अतर्क्य रमतामा म भी रमा प्रचार क बाह्याभार
विशयी बाह्य-युक्ता निशयी समाधिगम्य परमार्थ का भ्रमर भिन्नी है। अना
धोर योद्धा क सत्यता सम्यक धर्म है पर रम बाध म दाता एक है रि परम
प्राप्त्यर्थ का ग्राह्य क रिण जिगी पाहरी उपागत की उत्तरग नहीं है। माधता
द्वारा ध्याना द्वारा उम धार म ही उपागत किया जा करता है। परवर्ती
निगममार्गी कविमा म रम गिद्धा की गये गिर स रमागता धोर उमका प्रचार
हूमा है। धार रमता है रि उम भविता तामक नया तह्य भी मा जुटा है।

सरहपा कहे है रि जब तक म नान न प्राप्ता पर सो तब तक निय
यना का गवती न करो। यह काम कुछ एसा ही है जस अधा अध को कुछ
स बाड़ा का प्रयत्न करता है। नाना एक-दूसरे को रिण लिए अन्न म पुष्ट म
जा गिरा है। यह दाहा बहुत अना म दाया कवीरनाम के दूमी भाव क
नोट म भिन्ता है। सरहपा का दोहा इस प्रकार है—

जाय न धाय जनिमज्ज, साय न सिस्त बरेइ ।
अध अध कड़ाय तिम येण वि कूय पडइ ।

(सरह)

जाका गुरु भी अधता घता खरा निरध ।
अध अधा ठेलिया दोऊ कूय पडत ॥

(कवीर)

इसी प्रकार सरहपा कहते हैं सारी दुनिया म अंधार (मास्त्रज्ञान) बड
गया है निरक्षर कोई नहीं। पर अंधार तभी साधक होता है जब निरक्षर
(क्षर रहित) हो जाए।

अकलर बाड़ा सधल जगु नाहि निरकलर कोइ ।
ताय से अकलर घोलिया, जाय निरकलर होइ ।

(सरह)

गण्हा कहते है—पंडित लोग आगम वेद धोर पुराण पठकर मान करत

हैं (पर सत्त्व की बात समझन का प्रयत्न नहीं करत) यह उसी प्रकार का प्रयत्न है जस पके बल के चारो ओर भीरा चक्कर लगाता रहता है (पर रस नहीं पा सकता) ।

आगम वेद्य-पुराणोहि पडिअ माण बहति
पक्व सिरीफले अलिअ जिम बाहेरोअ ममति ।

(कण्हपा)

जोइ-दु कहत हैं—देवालय भी देवता भी शाम्भ भी, गुरु भी तीर्थ भी वेद भी काव्य भी, सब नाशवान हैं । जा भी वृथ कुसुमित है वह सब अततो गत्वा इधन ही हो जाता है —

देउल देउ वि सत्यु गुरु, तित्यु वि वेउ वि क्वु ।

वच्छु जु दोस कुसुमिपड इधणु होसइ सयु ॥

(जोइ-दु)

मुनि रामसिंह कहत हैं—वदत पत्ता है पर उसम तालू ही सूखता है । भर मूढ काई एक ऐसा अक्षर क्या नहीं पत्ता जिमसे तू गिवपुर मे पहुँच सक—

बहुपइ पडिपइ मूढ पर तालू मूकइ जेण ।

एक जु अक्षर त पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥

(मुनि रामसिंह)

इस प्रकार की नानमार्गी वराग्य-व्यजक रचनाएँ जन और बौद्ध आचार्यों ने काफी मात्रा में की थी । सब उपलब्ध नहीं हो सकी पर जितनी भी मिली हैं उनसे इस प्रकार के साहित्य की समृद्धि का पता चलता है और परवर्ती हिंदी साहित्य में जो इस भावधारा का समृद्ध साहित्य उपलब्ध होना है उसका प्रेरणा-स्रोत और विकास तब समझना आसान हो जाता है । अपभ्रंश काव्य परंपरा का यह एक महत्वपूर्ण अंग है । पर मैं आपको इसमें अधिक देर मतवाना नहीं चाहता । अब हम अपभ्रंश के रसात्मक साहित्य की चर्चा करेंगे ।

अपभ्रंश-ग्रन्था के प्रकाशन में अनेक साहित्यिक रहस्य स्पष्ट हुए हैं । जब जब कोई जानि नवीन जानियों के सपक में आती है तब-तब उसमें नई चेतना का लक्षण दिखाई देता है । साहित्य में नवीन चेतना कायस्था छाती और विषय विषय के प्रति दृष्टिकोण में प्रकट होती है । वदिक साहित्य के बाद लोकिक ससृजत-काव्य की नई चेतना की सूचना श्लोक में मिलती है, प्राकृत की गाथा में और अपभ्रंश की दोहा छंद में । दोहा अपभ्रंश का इतना लाडला छंद है कि किसी समय अपभ्रंश काव्य को दाहा वय या दूहाविद्या कहन का

प्रथा चल पड़ी थी। प्रबन्ध चिन्तामणि में दो वदीजनो की दूहा विद्या में विवाद करते हुए कहा गया है। दूहा विद्या अर्थात् अपभ्रंश काव्य। माइल्ल धवल नामक कवि ने दम्बसहावपयास (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) को पहले दोहा वध में देखा था। लोग उसका उपहास करते थे। अपभ्रंश गवारू भाषा जो ठहरी। यह देखकर कवि माइल्ल धवल ने उस गाहावध (गाथावध) में परिवर्तित किया—

‘दम्बसहावपयास दोहयत्रयेण भासि ज दिटठ।

त गाहावधेण य रइय माइल्ल धवलेण।

गाहावध की यह भाषा प्राकृत है। कहने का मतलब यह कि दोहा छंद अपभ्रंश में इतना प्रचलित था कि लोग छंद और भाषा को एकमेक करके देखने लगे थे। जब यह सहज मनोहर छंद भाषा काव्य में आ गया, यह कहना कठिन है। इसका सबसे पुराना प्रयोग कालिदास के विक्रमोपशीय नाटक में मिलता है। राजा पुरुरवा प्रिया विरह में याकुल जगत में भ्रम रहा है। वह उमत्त है राजोचित मर्यादा की बात भूल जाता है। नियम-कायन्त से राजा को मस्वृत्त में ही बोलना चाहिए ऐसा नाट्यशास्त्री आचार्यों का कठोर निर्देश है। इस नियम की अवहेलना केवल पागल ही कर सकता है। राजा पुरुरवा सचमुच पागल हो गया था। वह संस्कृत [छोड़कर प्राकृत में बोलता है, कभी कभी अपभ्रंश में भी। अपभ्रंश जब बोलता है तो अनायास यह दोहा उसमें मुट से निकल पड़ता है—

मइ जाणिमो मिमलोयणो निसिग्रह कोइ हरेइ।

जाव ण जावतइ सामलो धाराहर धरसेइ।

इस अजभाषा का दोहा बनाने में बहुत थोड़ा ही आयास करना पड़ेगा—

मैं जायो मगलोचनिहि निसिचरि कोइ हरेइ।

जो सों न नव तइ न्यामल धारापर धरसेइ ॥

कुछ लोग अपभ्रंश के इन पद्यों को प्रशिक्ष मानते हैं। यदि कालिदास का काल सन ईसवी की पाँचवीं छठी शताब्दी ही तो यह मानने में कोई विघ्न आपत्ति नहीं है कि उस समय दोहा छंद प्रचलित था। हेतु दो गो वष बातें हैं तो दोहावध के ग्रंथ भी भिन्न लगते हैं। यदि जगल में प्रियाविरह की चपट से विक्षिप्त राजा द्वारा कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्य छंद में प्रलाप करा दिया तो इसमें अचरज की क्या बात है? जो लोग कविता का समय और भी पुराना मानते हैं उन्हें जरूर कठोर आपत्ति होगी। वे यदि चाहें तो इस और समय अपभ्रंश पद्यों का प्रशिक्ष मानकर मनोप कर सकते हैं। मुझ

जो इस समाचार से प्रमत्तता ही हो रही है कि कालिदास को यह छंद मानूम था और अपनी पीयूषवर्षी लेखनी से उन्होंने इस छंद को धर दिया था। समय महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कालिदास इस छन्द में रचना करने का लोभ नहीं मवरण कर सका और मौका और वहाना खोजकर कुछ निख ही दिया। जो भी हो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले यह छंद खूब प्रचलित हो गया था।

कुछ पश्चिमी विद्वानों ने यह बताया है कि किसी समय बगब के ग्रीक मैनिश में होमर की कविताओं का प्रचार था। उही लोग ने या उनके संपर्क में आए आभीर आदि ने ग्रीक हस्ता मीटर का ताल पर भारतीय जनभाषा में यह दोहा छंद बना लिया था। पर यह बात कल्पना की उद्धान मान की सूचना देने है। किसी ठाम प्रमाण पर इस मत की पुष्टि नहीं हुई।

अब तक हमने जन और बौद्ध साधुओं और साधकों की रचनाओं की चर्चा की है। स्वभावतः उनमें धार्मिक पुनः वैराग्य की ओर झुकाव है तत्त्वज्ञान का स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है और भिन्न भिन्न मतों के विचारों का उपहास करने का प्रयास है। परन्तु लोक जीवन के सरस हृदय को बिना किसी धार्मिक आग्रह के, प्रकट करने वाला अपभ्रंश-साहित्य बहुत अधिक मात्रा में किसी समय विद्यमान था। दुर्भाग्यवश वह सब सुरक्षित नहीं रह सका। हमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में सब जगह ही व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए एक नये पद्य को नियमान रूप में लिखाकर चलता कर दिया गया है परन्तु अपभ्रंश के प्रकरण में व्याकरण की कजूर बुद्धि का महारा नहीं लिया गया। नियमों के बनाने में हमचन्द्राचार्य ने व्याकरण लाघवन पुत्रोत्पन्न मयत व्याकरणा' बात सिद्धांत का ही पालन किया है पर अपभ्रंश के व्याकरणों में पूरा का पूरा दोहा उद्धृत कर दिया है। व्याकरणा को दुनिया में निश्चय ही इस विज्ञान गच्छों के लिए उन्हें दण्डभागी होना पड़ेगा पर साहित्यिकों के लिए तो वे अमूल्य निधि छोड़ गए हैं। पता नहीं कहीं कहीं से उन्होंने इन बहुमूल्य दोहों का संग्रह किया था। निश्चय ही उनमें कई प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ रही होंगी। इनमें लौकिक जीवन की सहज अभिव्यक्तियाँ का बड़ा ही मोहोरम चित्र मिलता है। जान पड़ता है उन्हें इनके लाभ हो जाने का भय था इसलिए यत्नपूर्वक बचा रचना उनका उद्देश्य था। उन्हें जैन लोग कलिकाल सवन कहते थे। कदाचित् उन्होंने आधुनिक युग के सहृदयों के मनोभाव को दूरदृष्टि से नाड लिया था।

यह उन दिनों की बात है जब संस्कृत का साहित्य भाषा, भारवि और हर्ष के वाग्धर्म का आस्वादन कर रहा था। वचन वक्रिमा अलंकरण चानुरी

प्रथा चल पड़ी थी। प्रबोध चिन्तामणि में दो वदीयनों की दूहा विद्या में विवाद करते हुए कहा गया है। दूहा विद्या अर्थात् अपभ्रंश काव्य। माइल्ल धवल नामक कवि ने दत्तसहायपद्याम (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) की पहली दोहा वध में देखा था। लोग उसका उपहास करते थे। अपभ्रंश गवारु भाषा जो ठहरी। यह देखकर कवि माइल्ल धवल ने उसे गाहावध (गाथावध) में परिवर्तित किया—

‘दत्तसहाय पद्यास दोहयत्रयेण आसि ज दिटठ।

त गाहावधण य रइय माइल्ल धवलेण।

गाहावध की यह भाषा प्राकृत है। कहने का मतलब यह कि दोहा छंद अपभ्रंश में इतना प्रचलित था कि लोग छन्द और भाषा को एकमेक करके देखने लगे थे। कब यह सहज मनोहर छंद भाषा काव्य में आ गया यह कहना कठिन है। इसका सबसे पुराना प्रयोग कालिदास के विजयभावशीय नाटक में मिलता है। राजा पुरुरवा प्रिया विरह में व्याकुल जंगल में घूम रहा है। वह उमत्त है राजोचित मर्यादा की बात भूल जाता है। नियम-नायके से राजा को मस्त्रत में ही बोलना चाहिए ऐसा नाट्यशास्त्री आचार्यों का कठोर निर्देश है। इस नियम की अवहेलना केवल पागल ही कर सकता है। राजा पुरुरवा सबभुच पागल हो गया था। वह संस्कृत [छोड़कर प्राकृत में बोलता है कभी कभी अपभ्रंश में भी। अपभ्रंश जब बोलता है तो अनायास यह दाहा उसका मुह से निकल पड़ता है—

मइ जाणिअ मिअलोयणी निसिअह कोइ हरेइ।

जाव न गावतडि सामलो धाराहए वरिसेइ।

इसे व्रजभाषा का दाहा बनाने में बहुत यादा ही आयास करना पड़ेगा—

मैं जायो मगलोचनिहि निसिचरि कोइ हरेइ।

जो लो न नव तडि श्यामल धाराधर वरिसेइ॥

कुछ लोग अपभ्रंश के इन पद्यों को प्रक्षिप्त मानते हैं। यदि कालिदास का काल सन ईसवी की पाचवीं छठी शताब्दी हो तो यह मानने में कोई विघ्न आपत्ति नहीं है कि उस समय दाहा छंद प्रचलित था। डेढ़ दो सौ वर्ष बाद के तो दोहावध के ग्रंथ भी मिलने लगते हैं। यदि जंगल में प्रियाविरह की चपेट से विक्षिप्त राजा द्वारा कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्य छन्द में प्रलाप करा लिया तो इसमें अचरज का क्या बात है? जो लोग कालिदास का समय और भी पुराना मानते हैं उन्हें जरूर कठोर आपत्ति होगी। व यदि चाहें तो इसे और अन्य अपभ्रंश पद्यों को प्रक्षिप्त मानकर सतोष कर सकते हैं। मुझे

तो इस समाचार से प्रमत्तता ही हा रही है कि कालिदास को यह छंद मालूम था और अपनी पीपुषवर्षी लेखनी से उहान इस छंद को धर्य किया था। मवस महत्वपूर्ण बात यह है कि कालिदास इस छन्द म रचना करने का लोभ नहं सवरण कर सक और मौका और वहाना खोजकर कुछ लिख ही दिया। जो भी हा आज से डेढ़ हजार वष पहले यह छंद खूब प्रचलित हो गया था।

कुछ पश्चिमी विद्वाना ने यह बताया है कि किसी समय बलख के ग्रीक सनिको म होमर की कविताग्रा का प्रचार था। उही लोगा ने या उनके मपक म आए आभीर आनि ने ग्रीक हेवसा मोटर की तील पर भारतीय जनभाषा म यह दोहा छ * बना लिया था। पर यह बात कल्पना की उडान मात्र की मूचना देती है। किसी ठोम प्रमाण पर इस मत की पुष्टि नही हुई।

अब तक हमने जन और बौद्ध साधुग्रा और साधका की रचनाग्रा की चर्चा की है। स्वभावतः उनम धार्मिक पुट है वराग्य की ओर भुकाव है, तत्त्वदान को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है और भिन मतावलवियों का उपहास करने का प्रयास है। परंतु लोक जीवन के सरस हृदया को बिना किसी धार्मिक आग्रह के प्रकट करने वाला अपभ्रंश-साहित्य बहुत अधिक माना म किसी समय विद्यमान था। दुर्भाग्यवश वह सब सुरक्षित नही रह सका। हमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण म मव जगह ता व्याकरण के नियमो को स्पष्ट करने के लिए एक दा पता का निदगान रूप म दिखाकर चलता कर लिया गया है परंतु अपभ्रंश के प्रकरण म वयाकरण की कजूम बुद्धि का सहारा नहा लिया गया। नियमा क बनाने म हेमचन्द्राचार्य न अल्पाक्षरेण लाघवन पुनोत्सव मन्यत वयाकरणा वाले सिद्धान्त का ही पालन किया है पर अपभ्रंश के उदाहरणा मे पूर का पूरा नोहा उद्धत कर दिया है। वयाकरणो की दुनिया म निश्चय ही इस पिजूल खर्ची के लिए उह दण्डभागी होना पडगा, पर साहित्यिका के लिए तो वे अमूल्य निधि छोड गए हैं। पता नही कहा कहा से उहान वन बहुमूल्य दोहा का संग्रह किया था। निश्चय ही उनम कई प्रसिद्ध कविया की रचनाए रही हांगी। इनम लौकिक जीवन की सहज अभिव्यक्तियों का बडा ही मनोरम चित्र मिलता है। जान पडता है उह इनके लाप हो जाने का भय था, इसलिए यत्नपूर्वक बचा रखना उनका उद्देश्य था। उन्हें जन लोग कनिकाल सबन कहते थे। क्वाचित उन्होंने आधुनिक युग के सहृदया के मनोभाव का दूरदृष्टि से ताड लिया था।

यह उन न्त्रो की बात है जब संस्कृत का साहित्य माध, भारवि और हय के वाग्वमव का आस्वादन कर रहा था। वचन वक्रिमा अलकरण चानुरी

मन्मथ मनुष्या की रंग ममता की मय विरज पद्मपद्म और बुद्धिमत्त्व म
मनुष्या उचित विभाग म मनोरम बना जगत म काव्य म युग है । यह यद
त म मयी हुई कवि प्रोशति इन काव्य की दुर्लभ और विद्वत्प्राप्त बनाना
है मन्मथ-मन्मथ की मू म मुनिपति इन यह विविध शोभा म समझ करती है ।
य म काव्य धार धार मनुषीन और मायधान मन्मथन की मंग करना है
काव्यन रंग की बारीकिया मन्मथन म मनुष्यामन और उचितविश्व की
मामिक जातारों की मनेग रगता है राजनीति म निपुण धान प्रविधाना
राजगमा म अभिजातगुणीन काव्य नानुता मन्मथनररण की परिपाटी विहित
विहितिया और माय उपनयन मगराभा का सहृदयजन-वाचित विधिया क
नान की माय-मन्मथता चाहता है गोभा विलास कानि हाव भाव विचित्र
मोटापिन कुटुमित धानि मन्मथन और यत्नज चण्डाभा म मनेगमने की रगा
स्वान की माय-मन्मथता इन मानता है । पद्य तो पद्य गद्य म भी यह ममय मुद्रा
दनी और माय का युग है । इस युग म गद्य का पद्य स भी अधिक परिष्कृत
रवि और मुनिगति यचन मन्मथ का विषय माना गया है गद्य की कविया क
परिष्कृत वाग्मिलाम की कसौटी माना गया है । कथाकारों के मुकुटमणि वाणभट्ट
न कहा था—उत्तम दीपक और उपमा भाषि मन्मथन स मन्मथ मन्मथ नूतन
पदार्थों म समावेश स विरचित, निरंतर इलेपालवार स घनीभूत होने क कारण
नित्त दुर्बोध कथा-काव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान उपाये घन सनिविष्ट
चपक कली की उस मनोहर माला के समान जिसम बीच बीच म चमत्की क
फून पिराय होत हैं किसका मन हरण नहीं करत ?

हरति क नोज्ज्वल दीपकोपम

नय पदायक्षपादित कथा ।

निरंतर इलेयधना मुजातयो

महासजश्चम्पक कुडमलरिध ॥

इसी पाण्डित्यम्यापिनी, बुद्धिप्राप्त सावधान पाठय मनोरम अभिजात काव्य
क वातावरण म अपभ्रष्ट के इन सहज सुकुमार ममभेदी अव्याज मनोहर
कविताओं की रचना होती है । सीधी बात सीध हृदय से निकलती है और
सहृदय क हृदय पर सीधी चोट करती है । मन्मथन के लिए कोई आयास
नहीं व्यर्थभागमा के लिए दौड़ रूप नहीं परिपाटी विहित रसिकता की परवाह
नहीं लेना विनास विहितियों के निपुण विवेचन की कोई खबर नहीं—
सरल मानस की सहज अभिव्यक्ति ।

काव्य जगत की रुडिया से नस्त परिपाटी विहित भाविकता से घायल

श्रीर कृतिम भावभगिनी से उन्ने सहृदय को यहा शांति की साँभ ले। का अवसर मिलता है। बहुत पहन कविबुलगुरु कालिदाम ने कभा कहा था—

गुह्यतदुलममिद वपुराश्रमवासिनो यदि जास्य ।

दूरीकृता खलु गुणरुच्यानलता वनलताभि ।

राजाग्रा के अंत पुर म दुलभ इस प्रकार का मनोहर शरीर यदि आश्रम व मियो का हो तो फिर निश्चय ही वन लताग्रा न उद्यान लताग्रा का गुणा मे बहुत दूर पीछे छोड दिया है।

इन कविताग्रा को पत्कर महाकवि की इस उक्ति की याद आए बिना नहीं रहती।

स्वयभू त्रिभुवन और पुष्पदंत जस कविया के काव्य की भाषा अवश्य ही अपभ्रंश है परंतु वे शास्त्रीय परंपरा के कवि है। उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के कायो का गम्भीर अध्ययन किया था। अलंकार, रस और पिंगल के पूर्ण ज्ञाता थे। परंतु हमचंद्र के व्याकरण म उद्धत मोहो म ग्रामीण कविया की सरल अभिव्यक्ति है उनम कोई आडम्बर नहीं है वक्रता नहीं है रसनिष्पत्ति के लिए चिन्तन-जय भगिमा नहीं है। स्वयभू लाकभाषा के प्रेमी थे परंतु रसमष्टि के अभिजातजनोंचित नियमा के परिपालक भी थे। हरिवंश पुराण म स्वयभू ने लिखा है कि उह इन्द्र से व्याकरण पास से विस्तरण, पिंगल से छंद और प्रस्नार विधि, भामह-दण्डी से अलंकरण बाणभट्ट से घनघनित गानाडवर हरिसेन तथा अन्य कविया से कवित्व-गुण और चउम्भुह (चतुर्मुख) से छंदण, द्विपदी और ध्रुवका स जडित पद्धडियावध प्राप्त हुआ—

इन्द्रेण समपिउ वायरणु । रस भरह वास वितयरणु ॥

पिंगलेण छंद पय पत्थाह । सम्मह दण्डिणिहि अलंकार ॥

बाणेण समपिउ घणघणउ' । ते अक्खर डम्बर घण घणउ ॥

हरिसणि पाविउ जित्तणउ । अवरेहि मि कर्हाह कवित्त णउ ।

छंदणिय-दुवइ धुवएहि जडिय । चउम्भुहेण समपिय पद्धडिय ॥

इस वक्तव्य म उनके गम्भीर अध्ययन और शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही उनके काव्य म रस गभीर अध्ययन-मनन का साक्ष्य वतमान है। वे विकट वध के कवि कहे गए हैं। पर जिन दोहा को बचा हम आग करने जा रहे हैं व गते पविता के लिये नहीं जान पडते। पंडित वे हो भी तो पविताई से बहुत उपर उठे हुए हैं। सहज भाव बड़ी कठोर साधना से प्राप्त होता है।

कुछ उन्नाहरणा म जान स्पष्ट हो सकगी।

एक बिरह व्याकुला प्रिया कहती है कि किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा सन करती जो अब तक किसी न नहीं किया। उसक प्रत्येक अंग में ऐसा पठ जाती जिसे प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है—अग अब मैं भीन जाता है—

जइ केबड़ पायोसु पिउ अकिम्रा कूडु करीसु ।

पाणिउ नवइ सरावि जिव सबगो पइसीसु ॥

प्रेमपरवशा बधू कहती है—माई री जब मन स्वस्थ हो तो मान की सुधि की जाए। यहा तो बात ही कुछ और है। ज्या ही प्रिय को देखती हूँ ऐसी हड बड़ी मचती है कि फिर अपनी समझी-बूझी को याद ही कौन करे। सारा सोचा भ्रमभा गायब हो जाता है—

अस्मीए सत्यावत्येहि सुधि चित्तिउजइ माणु ।

पिए दिटठे हल्लोहलेण को चेभइ अप्पाणु ॥

मान करनेवाले दूल्हे को सिखाया जा रहा है—प्यारे मैं तुम्हें बहुत बार मना किया कि मान देर तक न किया करो। बेपीर इस मान मनीअल में रात बीन जाएगी और जल्दी जल्दी दडबड बिहान हो जाएगा ।

ढोल्ला मइं तुहु वारिमा मा कुरु दीहा माणु ।

निहए गमिहो रत्तडी दडबड होइ बिहाणु ॥

कोई बयस्का सखी सहजबकिम लोचना नायिका को परिहास पशल बाणी में समझा रही है—बिटिया मैंने तुम्हें कितनी बार कहा कि इग दट्टि को बांकी न किया करो। वह जो कानवाली बर्छी होनी है न जो हृत्प में धुगजर मास नोचकर बाहर निकलती है उसी प्रकार तुम्हारी यह बांकी दट्टि शिकार को बेधती है ।

बिट्टीए मइं मणिय तुहुं मा कुरु बकी दिटठि ।

पुत्ति सकण्णी माल्लि जिव मारइ हियइ पइटिठि ॥

बकिम कटाथा के तीसपन को इम प्रकार समझाया जाता है—जस जस वह साँवरी अपन बकिम लोचना को धूमना सिखाती है वस-वस ममथ अपन बाणा का सर पायर पर पजा-पजाक (धिम धिमर) तीखा कर लेता है (य बाण पूना के नहा इम्मान के हाण ।)

जिव जिव बकिम लोमणह गिर सामानि तिक्खइ ।

तिय तिय यम्महु गिअअ-सर खरि पत्थरि तिक्खइ ॥

बिरहिणी ग्राम-बधू काक के गडुन पर अब विवाह नहीं करता। मुनत मुनत कान पक गए पर प्रिय का आना नहीं हुआ और यह काम है कि बाँता

ही जा रहा है। उसने उड़ाना चाहा इस मिथ्याभाषी को, हाथ उठाकर। विरह स दुवली कलाइयां से चूड़ी निकलकर पथ्वी पर गिरी लेकिन वागा की बात ठीक ही थी। अचानक प्रिय निख गया। आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गई थी। पर सहसा प्रियदान से खुशी की लहर दौड़ी, दुवली बनाई पूनकर मांगी हुई, आधी चूड़ियाँ तडाक स टूट बिखरी।

वायसु उडडावतिप्रए पिउ दिठठउ सहसति ।

अद्धा बलया महिहि गय अद्धा फुटटु तडति ॥

कसी महज अभियति है। कोई बनाव सिंगार नहीं, कोई आँखें नहीं, सहज उल्लास का सहज प्रकाशन।

मान करनेवाले प्रेमी से प्रिया कहती है—दखा प्यार, जिन्गी का कोई ठिकाना नहीं है और मौन का आना एकदम त है। ऐसी हालत में यह रुठने की बात क्या? रुठोगे तो य विधाग के एक-एक दिन दवताआ के सी-सी बरसा के समान हो जाएंगे।

चचल जीवणु धूवु मरणु पिअ रुसिज्जइ काइ ।

होसिहि दिअहा रुसणा दिब्बइ बरिस सयाइ ॥

सीधा सा अकाट्य तक है।

काय शिशा मिद्ध कवि जम के उत्तान शृंगार का चित्रण करता था पर वही न वही उसके हृदय में चार बठा होता था। वह जानता था कि लोग इस बात का अच्छा नहीं समझेंगे। इन दोहा के कवि में ऐसी भिन्नता नहीं थी। राधा के पयोधरा की महिमा वह इस प्रकार वर्णन करता है—'इन्होंने श्रीकृष्ण को आगम में ही नचा दिया और लोगो को अचरज में डाल दिया। अब राधा के इन मनोहर अंगों का जो हाता हो, हो।

हरि णच्चाविउ पगणइ धिम्हइ पाडिउ लोउ ।

एम्बहि राह पओहरह ज भावइ त होउ ॥

अनुल रहमान ने भी सदेशरसक में विरह की अभियोजना इही प्रति दिन के जीवन में प्राप्त होनेवाले महज उपमानों के सहारे की है। विरह विधुरा प्रिया कहती है—मेरा प्रिय मर हृदय में सुनार की तरह उत्कठा जागृत करता रहता है क्योंकि पहले तो विरह की आग में जलाया करता है और फिर आग के जल से सींचा करता है।

सुनारह जिम मह हियउ पिअ उबिक्ख करेइ ।

विरह हुयासि देहेवि करि आसा जलि सिचेइ ॥

फिर, ए रात्रि तुम्हारी निवायन भी क्या करूँ? यह शिकायत क्या

इतनी थोड़ी है कि तीन लोक में घोंट सके ? दुख के दिनों में तो तू चांगुनी हो जाती है पर सुख सगम के समय एकदम छोटी हो जाती है । इस अयाय की कोई सीमा है ?

जामिणि ज वयणिज्ज तुअ त तिहुय णि णहु माइ ।

डुक्खिहि हाइ चउगणो भिज्जइ सुह सगाइ ॥

(सदेश रासक)

प्रवध चितामणि पुरातन प्रवध सग्रह में जो मुज और मृणालवती सबंधी दोहे प्राप्त होते हैं उनमें भी अत्यंत सहज अभिव्यक्ति है । गतयोवना मृणालवती को संबोधन करके मुज कहता है—ऐ मृणालवती क्यों चिता करती है कि तेरा यौवन समाप्त हो गया है । मिथी चूर चूर भी हो जाए तो भी चूरे उतने ही मोठे बने रहते हैं—

मुज मणइ मृणालवइ गउ जुवणु मति मूरि ।

जो सक्कर सय खण्ड किअ तो वि स मिठ्ठी चूरि ॥

फक्कड़ राजा मुज की जा मृणालवती के प्रेम के धोखे में गिरफ्तार हुआ और बांधा जाकर दर दर घुमाया गया यह कसी चुन्नीली उक्ति है ।

पर हेमचंद्र के सगृहीत दोहों में केवल शृंगार ही नहीं है । उसकी सबसे अधिक आकर्षक बात है वीर-मलिन्या का गव । पति की वीरता को सहज गव का विषय बनाकर य वीरवालाएँ ऐसी दर्पोक्तियाँ करती हैं कि वरा देखते ही बनता है । यह एकदम नवीन प्राणस्पदी काव्य है ।

अरी ओ सखी मेरा वल्लभ जब देखता है कि अपना दल टट रहा है और गधु का दल बग़ा रहा है तभी निराशा के अधकार का चीरती हुई गणि रेखा की भाँति उसकी करवाल चमक उठती है—

मणिउ देखिखि निअअ यलु यलु पसरिअउ परसु ।

उम्मिल्लइ ससिरेह जिय करि करवालु पिपस ॥

गव-गव मेरा वल्लभ है लोग जिसकी सो-मो लडाइया की वहादुरी का सम्मान किया करते हैं देख किस प्रकार व्यवहार में सतगजराजा के विमान कुम्भा को लगाने पर तलवार की चाल से विदाण करता जा रहा है—

सगर सएहि तु वणिअइ देखु अम्हारा वलु ।

अहिमनहे चतकुसहे गपकुमइ दारलु ॥

मुन सभी मेरा प्यारा वीरा की उम निविड घग के भानर में अपना रास्ता निकाना करता है जहाँ बाणों में बाण बना करते हैं और तनवारा से तनवारे छोड़ती रहती है । गया भयकर गणपति में हा वह अपना मार्ग बनाता है—

जहि कपिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ सगिण खगु ।

तहि तहइ मड घड निवहि कतु पयासइ मगु ॥

भलेमानस तू अगर बडे आदिमिया क बडे बडे महलों की पूछता है तो देख बडे महल के हैं । पर एस महान का घर पूछता है जो सकट कातर लागा क उद्धार का सामर्थ्य रखता है तो देख उस कुटिया को जहाँ मेरा कातर रहता है ।

जइ पुच्छह घर बडडाइ तो बडहा घर मोइ ।

बिहलिअजण—अन्भुद्धरण कतु कुडीरइ जोइ ॥

अरी ओ सखी तू क्या उसकी गूरता और वदायता की बड़ी बडाई कर रही है । वकार बकवास न कर । मैं उमके दो दोषा को भली भाँति जानती हूँ—दान करने लगता है तो सबस्व उलीचकर दे देता है, मुझे बचा लेता है, जूझन लगता है तो सब-कुछ दाँव पर लगा देता है, तलवार बचा लेता है । ऐसे कजूस की तू बडाई कर रही है । भूठ है सब भूठ है—

महु कतहु वे दोसडा 'हेल्लि म झखहि आलु ।

देन्तहो हउ पर उवारिअ जुझतहो करवालु ॥

कुमारी प्राधना करती है—हे गौरी इस जाम म और अगले जाम म मुझे ऐसा घर दो जो त्यक्ताकुश मत्तगजराजा से हसना हँसता भिड जाए ।

आएहि जम्मेहि अनेहि वि गवरि सु दिज्जइ कतु ।

गयमत्तच्चत्त कुसहँ जो अमिडइ हसतु ॥

किसी शत्रुपक्षीय शर की प्रशंसा सुनकर वीरवाला की यह दर्पोक्ति सुनिए—जब तक कुभतट पर सिंह की चपेट की चटाक नहीं पन्ती तभी तक सारे मतवाले गजराजों के पग-पग पर ढोल बजा करत हैं—

जाम न निवडइ कु मयडि सीह चवेड चडक्क ।

ताम समत्तहँ मयगलह पइ पइ बरजइ ढक्क ॥

बलया जाऊ उस प्यारे की जिसके परा म मत योद्धाया का अनर्हिया उनभी हुई हैं सिर कये से झूल पडा है तो भी कटार पर टाय जमा हुआ है—

पाइ बिलगी अत्रडी सिह ल्हसिअउ खथस्सु ।

तो वि कडारइ हथडउ बलि किज्जउ कत्तस्सु ॥

शत्रुसेना से घिरे गूर की दर्पोक्ति भी सुनिए—अर या हृत्प, अत्रु अत्रुन है तो क्या आसमान पर या वायु पर चढ जाऊँ ? मरे भी ता न नाय हैं । मरना ही है तो मारक मरूँगा—

हिमदा जइ वेरिष पणा तो कि मग्नि पडाहू ।

मग्नाहि दि मे हरपदा जइ पुनु मारि मराहू ॥

शृंगार और वीर का यह अद्भुत लोक है। यहाँ अश्रु और आग का कोई स्थान नहीं है। भविष्य की जिन्ना से पूँ-पूँ कर काम करने वाला की पगधनि यहाँ नहीं गुनाई दती। भना एस पुत्र के उत्पन्न होने से लाभ ही क्या है और मर जान से पुनरात्म ही क्या है जिसके रहते माप की जमीन दूसर भोगत रह—

पुसे जाँए वयणु गुणु भवगुणु वयणु मुणु ।

जा यप्पोडा भूहडी घविज्जइ भवरेण ॥

इन दोहा में शृंगार और वीर रस के प्रतिरिक्त नीति के दाहे भी हैं। परवर्ती साहित्य में इन सभी अंगों का समुचित विकास पाया जाता है। परवर्ती साहित्य के अध्ययन के लिए इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

अपभ्रंश में एक तरफ जहाँ लौकिक रस के सहज सरस दोहे लिखे जा रहे थे वहीं अन्य छंदों की भी रचनाएँ हो रही थीं। जन कवियों ने अपने काव्यों में बड़े बड़े छंदों का भी प्रयोग किया है। मुख्यतः वे कंडवक बद्ध हुआ करते हैं। कंडवक अपभ्रंश के काव्य रूपा का पारिभाषिक नाम है। पद्मटिका पद्धतियाँ आदि छंदों की कुछ पद्धतियाँ देकर बात में धत्ता उल्लाला आदि छंद लिए जाते थे जो बहुत कुछ तुलसीदास और जायसी के चौपाई दोहा के पूर्व रूप हैं। इस पद्धतियाँ वध भी कहते हैं। स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवि चउम्मुह (चतुर्मुख) की पद्धतियाँ-वध का राजा बताया था। उन्होंने कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया है कि उन्होंने पद्धतियाँ वध की प्रेरणा चउम्मुह से ही ली थी। धीरे धीरे अपभ्रंश में रोला उल्लाला, वीर, काव्य छप्पय कुंडलिया रामक आदि बड़े बड़े छंद भी प्रचलित हुए। वे भी उतने ही सरस बन पड़े जितने दोहे। अब्दुल रहमान के सदेशरासक में अनेक प्रकार के छंदों का बहुत सुंदर प्रयोग हुआ है। प्राकृत पगलम में कई कवियों के बड़े मनोहर छंद उठा हरण रूप में उद्धृत है। 'प्राकृत पगलम' में बब्वर जज्जल विज्जाहर (विद्याधर) आदि कई कवियों के नाम भी मिल जाते हैं। इनकी वीर और शृंगार रस की कविताएँ बहुत ही उच्च काटि की हैं। काशी कायकुंज के महाराजा जयचंद्र (जयचंद) की वीरता बताने वाली यह कविता कितनी उत्साहवद्ध है—

भग्न भज्जिभ्र वगा भगु कलिगा

तेलगा रण मुक्कि चले ।

मरहटठा डिटठा सगिभ्र बटठा

सोरटठा भग्नपात्र पले ।

चपारण कपा पवय क्षपा

श्रोथा श्रोतयी जीव हरे ।

कासीसर राणा कियउ पन्नाणा

त्रिज्जाहर भण मतिवरे ।

जज्जल की यह प्रमिद्ध उक्ति प्राकृत पगलम स ही उद्धृत है—

पिधउ दिढ सणाह बाह उप्पर पक्खर दइ ।

बधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वग्गण लइ ॥

उड्डल णह प्ह ममउ । रिउ सीसहि डारउ ।

पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वग्ग अफ्फालउ ॥

हम्मीर कज्ज जज्जल मणइ कोहाणल मुह म्हा जलउ ।

मुरताण सीस करवइ जाल दत्तेजि कलेवर दिग्ग चलउ ॥

उदाहरणा को ब्रह्मन् से कोई लाभ नहीं है । य छंद केवल इतनी सूचना दे जात है कि किसी समय अपभ्रंश भाषा में बहुत ही उत्तम कोटि का साहित्य उपलब्ध था । यद्यपि इस समय हमारे पास जन कवियों के धार्मिक काव्य ही कुछ बचे रह गए हैं पर लौकिक रस का प्रचुर साहित्य इस भाषा में विद्यमान था इसमें कोई सन्देह नहीं । इस प्रसंग में उल्लेख्य है कि लौकिक शृंगार रस का एक ही पूरा काव्य उपलब्ध हुआ है—अद्दहमाण या अद्दुल रहमान नामक पञ्जाबी मुसलमान कवि का सन्तर्ग रासक । यह विरह का काव्य है । इसमें कवि ने बनी ही कुशलता से एक विरहिणी नारी के वियोगाकुल हृदय का चित्र खींचा है । यद्यपि ग्रंथ में प्रधान रूप से रासक छन्द का ही प्रयोग हुआ है पर अग्र्य बड़े छोट छन्द भी इस ग्रंथ में कम नहीं हैं । इस पुस्तक की कुछ पक्तियाँ की बानगी देना अनुचित नहीं होगा । एक विरहिणी जो बिजयनगर की है प्रिय विरह से कानर हाकर किसी की राह जोह रही है । तभी मुलतान का कोई आदमी जो व्यापार के सिर्जसिने में मालिक का पत्र लेकर खम्भान जा रहा है मिल जाता है और वह अपना सन्तर्ग उसके हाथों भेजती है । विरहिणी का प्रथम परिचय बड़ा ही कर्ण है । यद्यपि अप्रुव मुन्दरी है, उमरे हुए वक्ष स्थल और भिड की तरह सखली कटि तथा हक के अमान गति वाली है फिर भी विरहाग्नि की आँच से उसके चेहरा कांता पड़ गया है सान का-मा रग म्मान हो गया है जम चद्रमा राहू द्वारा पराभूत हो गया है । वह दीनानन्दा राह जोह रहा है आत्मा से निरन्तर जलधारा प्रवाहित होती जा रही है—

विजयनगरहु कापि घररमणि
उत्तुगपिरयोरपणि विरहलवण धयरटठपउहर ।
दोषाणण पहु णिटइ जलपयाए पयहत दोहरि ।
विरहणिहि कणयगितणु सह सामलिसपव नु ।
णज्जइ राहि विडम्बिअउ ताराहियइ सउन ।

फिर सामन किसी बटोही का जात देखती है और उस रोयती है । उसका पाम पहुँचने का उतावली उस विरहवानरा तबगी को दुदगा हा जाती है । तबजी म जो वह पयिव की ओर बढी तो कमर की रगनावली टूट गई किंकि णियाँ कण करणन के साथ बिखर गईं । किसी तरह उहे समेटा और रगनावली म निष्ठुर गौठ बांध-बूध आग बढी तो मातिया का नीलडा हार टूट कर छिनरा गया । उसे बिचारी ने सँभालकर कुछ प्रागे बन्ने का प्रयत्न किया तो चरणा मे नूपुर हो उलझ गया और उसकी किंकिणिया रास्ते म बिखर गई ।

त ज मेहल ठवइ गठि णिटठुर सुहय
तुडिय ताव थूलावलि णवसर हार लय ।
सा तिवि किविसयोरवि चडियकिवि सचरिय
णेवर चरण विलगिवितह पहि पखुडिय ॥

इस उतावली की कोई हठ है । पयिव मिला मुलतान का निवासी खभान का यात्री । विरहिणी का पति वही रहता था । फिर सदेगा । विरह का अपार समुद्र । जितना ही गभीर उतना ही उद्दाम ।

अदुल रहमान बडे ही निपुण कवि थे । उन्होंने आरम्भ म अपना परिचय देते हुए कहा है कि वे प्राकृत के काव्य और गीत विषया म निपुण हैं । निस्संदह उनके इस छोटे-से काव्य से पता चलता है कि वे महान कवि रहे हाने । प्राकृत काव्य पर उनका अनुराग भी बहुत है । उन्होंने बडी विनम्रता से अपना काव्य आरम्भ किया है । उनका लभीभूत श्रोता थोडा-बहुत पत्र लिखा सहृदय है । वे कहते है कि जो लोग पंडित हैं वे इस कुकवित्त के लिए क्या ठहरेंगे जो एका त मूख है उसका मूखता क कारण इसम प्रवेश ही नही हो सकता । इसलिए जो लोग न पंडित हैं और न एकदम मूख हैं मध्यवर्ग म आत हैं उही को यह कविता प्रिय लगेगी । उनके सामने ही यह कविता बार बार पढी जा सकती है—

णहु रहइ बुहह कुकवित्तेसु
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु ।

जिण मुक्कल न पडिय मज्झयार ।

तिह पुरउ पडिक्कउ सब्बवार ॥

इस काव्य में विरह की अनक सूक्तियाँ भी हैं। पर अधिकांश विरहिणी का कामल हृदय की सरल अभिप्रेरणा है। ऋतुवर्णन का बहाना भी कवि ने ढूँढ़ लिया है और तीमर प्रक्रम में प्रकृति के बदलते हुए विभिन्न रूपा के साथ मनुष्य के रागात्मक हृदय का अदभुत स्वारस्य चित्रित किया है। इस विरह वर्णन में अत्यन्त वर्ण चित्र में भी कवि का प्राकृत भाषा का प्रेम प्रकट हो जाता है। गरतकाल के वर्णन में विरहिणी नायिका पथिक से पूछती है—

कहो पथिक, क्या उस देव में रात को निमल चन्द्रमा की ज्योत्स्ना नहीं छिन्कती ? क्या अरविदा पर बिहार करने वाले हम कलरव नहीं करते ? क्या कोई मुनलिन राग से प्राकृत भाषा का गाना नहीं गाता ? क्या कापालिक (निंदक) भाव में कोई पचम मुर में तान नहीं छेड़ता ? क्या वहाँ प्रातःकाल की प्रत्युष वेला में ओषध भीग पुष्प समूह मह मह नहीं कर उठते ? हे पथिक, मैं तो समझती हूँ कि मेरा प्रिय अरसिक ही है जो शरत्काल में भी घर नहीं लौटता—

कि तहि देस णहु फुरइ जुह णिसि णिम्मलचदह

अह कलरउ न कुणति हस फलसेवि रविदह ।

अह पायउ णहु पढ़इ कोइ मुलतिय पुण राइण

अह पचमु णहु कुणइ कोइ कायालिय भाइण ।

महमहइ अहय पच्चूसि णहु ओससित्तु घणु कुसुम भर ।

अह मुणित पहिय अणरसित पिउ सरइ समइ जुण सरइ घर !

कसा है वह देस जहाँ प्राकृत का ललित राग भी नहीं गाया जाता ।।

मन्दुल रहमान का अपना नगर ऐसा अरसिक नहीं था। वहाँ तो प्राकृत और रामक से नगर माग मुखरित हाँते रहते थे। इस कवि ने माम्बपुर या मुलतान का बड़ा ही मनोहर और जीवन्त वर्णन किया है। वहाँ के घबलतुग प्राकारा का उल्लस करते हुए जब नगर के जीवन श्रम का परिचय देता है तो पहली बात यह यही कहता है कि चतुर व्यक्तियों के साथ नगर में प्रवेश किया जाए तो अत्यन्त मधुर-मनोहर प्राकृत छन्द सुनाई देंगे चोय लागी का वेद-भाठ सुनाई देगा और नाना रूपा में निबद्ध रासक सुनाई देंगे।

विविहविअणसण सरियहि जइ पवसिइ णिह

मुम्मइ धंउ मनोहर पायउ महरयर ॥

कहव ठाढ़ चउवेइहि येउ पमासियउ ।

कहुँ धहुरवि निवदउ रासउ मासियइ ॥

प्राक्त के मनोहर छंद वद और रासक । रामायण, महाभारत नलम्भ यन्ती मारगा सत्यब्रज्ज, सब वाद म । इसी म इस कवि का प्राक्त (और अत्र भ्रम) काव्य के प्रति राग स्पष्ट हो जाता है । हर ऋतु का वर्णन कवि न बड़ा ही मनोरम किया है । वर्षा के प्रसंग म—

अपवि तम बहलिण दसह दिसि छावउ अम्बर ।

उनवियउ धुरहुरइ धोर घणु किसणाडयर ॥

णहह मगिण णहबलि तरल तडपडिवि तडकइ,

दहुर रड णु रउदु सहु कुवि सहवि ण सबकइ ।

निवड निरतर नीरहर दुद्धर धरधारोहमर ।

किम सहउ पहिम तिहरदि ठपइ दुसहउ कोइल रसइ सर ।

कवि की यह उक्ति बादला की घनघोर घटा काले ममृण भाडवर के साथ धुरघराती हुई घुमडती हुई ध्वनि नभोभाग म विजली का तडतडाना, दादुरा की रीर रटन और रई के पहल पर पहल के समान फल हुए जलभरित मघा की दुधर धारा-प्रकृतियों को बिना अथ समझे भी प्रत्यक्ष कर देती हैं । विरहिणी की यह करुण हृदयवेदना कि ऐसे समय म गिखर पर बठी कोयल की दुमह कूक कसे सह मूर्तिमत् होकर प्रकट होती है । पर हर ऋतु म बदली हुई प्रकृति के साथ ताल मिलाकर चलनेवाली मानव प्रकृति प्राक्त के रागो म बराबर मूर्तिमती हो उठती है । अटुल रहमान कोयल की कूक के साथ रागा की दुनिया की कूक का कभी न भी भूलते । वसंत म एक तरफ विभि न पुष्पा के रगो म घा रूपा म प्रकृति के अंतरतर की उल्लास वटना वसमसा उठती है कोयल कूकने लगती है और भारे गुजार करने लगत है । मोर नाच उठत हैं । सारी प्रकृति उल्लसित और मदविह्वल हो उठती है पर साथ ही अटुल रहमान मनुष्य के उस राग रजित चित्त को नही भूलत जा नूपुरो की रनभुन म नृत्य की चटुल भगिमा म, हारा की भटकन मटकन म बचरी क गेय पत्ता के साथ उमडत ताला म, युवतियों के उल्लास-तरल कठ म अभिव्यक्ति पाता है—

नच्चो रिहि मेउ मृणि करिवि तालु,

नोच्चोपइ अउरव वसंत कालु ।

घण निविड हार परिलिल्लरोहि

रणगुण रउ मेहलकिकिणीहि ।

गज्जति तरुणि णवजुवणीहि
सुणि पढिय गाह पिअकखिरीहि ।

ऐस समय म प्रिय विरहिता यह प्राकृत गाथा पढ़े बिना कस रह सकती
था ? —

एआरिसमि समए घणदिणरहसोयरमि लोयम्मि ।

अच्चहिय मह हियए कदप्पो खिवइ सरजाल ॥

अर्थात् ऐस समय म जबकि लोक मे दिन इतन उत्तेजक हो गए हैं यह
कितनी बड़ी विपत्ति है कि प्रेम का देवता मेरे हृत्प पर बाणा की निरंतर चोट
करता ही जा रहा है ।

हर मौसम म अद्भुत रहमान प्रकृति की अतर्निगूढ वेदना के साथ मानव
चित्त का उद्वेल करने वाली प्राकृत कविता का ध्यान रखते हैं । मानो यह कविता
भी हजार फूलों के बीच खिला हुआ एक फूल हो—सहज मनोरम भव्य,
आकर्षक ।

अपभ्रंश कविता के जो कुछ भी अवशेष प्राप्त हुए हैं वे इतने मोहक और
रसाल हैं कि कविता का छूट दी जाए तो एक एक कविता उद्धत करने की
सच्चेगा, एक ही कविता को कई बार पढ़ने की कामना करेगा । परंतु मैं आपको
अधिक उद्धरणों से परेशान नहीं करूँगा । कुछ थोड़ी सी कविताएँ इस बात को
सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि यह साहित्य कितना समृद्ध था, कितना सहज
था कितना मनोरम था ।

मैं कुछ और पुस्तकों में प्राप्त कविताओं को उद्धृत करने की लालसा को
दबा रहा हूँ । जसाकि गुरु म ही बताया गया है कई ग्रंथों में इस साहित्य की
सामग्री बिखरी पड़ी है । कुछ ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तकों का सिर्फ नामालेख
करके विरत हो रहा हूँ जिनमें अपभ्रंश की उत्तम रचनाएँ बिखरी हुई हैं और
मरे दखन में आई हैं ।

प्रबन्ध कवितामणि नामक ग्रंथ स० १५६१ वि० में लिखा गया था । इसके
नामप्रेजी अनुवाद हो चुके हैं । मैंने हिन्दी में भी इसका अनुवाद किया है जो
मिथी ग्रंथमाला में प्रकाशित हो चुका है । इसमें अपभ्रंश के कुछ बहुमूल्य दाहे
हैं जो सिद्ध करते हैं कि किसी समय अपभ्रंश का विपुल साहित्य उपलब्ध था ।
मेस्तुग इसके लेखक हैं । बाद में राजनेखर मूरि ने दावा कि इसमें कुछ कथाएँ
छूट गई हैं । उन्होंने चौबीस प्रबन्धों का प्रबन्धकोश लिखा और इन दानों में
छोटी हुई कथाओं को परवर्ती जन पाठकों के विविध हस्तलेखों के हाथों पर
लिख रखा था जिनका संग्रह मुनि जिनविनयजी ने पुरातनप्रबन्ध संग्रह नाम

स सम्पादित किया है। इन दो संग्रहों के हिन्दी अनुवाक भी मैंने किए हैं। पर अभी तक वे प्रकाशित नहीं हो सके हैं। इन तीन प्रबंधों में अपभ्रंश की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं जो इस भाषा के विपुल साहित्य की ओर इंगित करती हैं। सोमप्रभ नाम के एक दूसरे जैन आचार्य हुए हैं जिन्होंने कुमारपाल प्रति घोष नामक एक विचित्र काव्य लिखा जो है तो मुख्यतः प्राकृत में है पर एक दो कथाएँ संस्कृत में और कुछ अंग अपभ्रंश में हैं। अपभ्रंश के कुछ दोहे इसमें आए हैं। कदाचित् कवि ने कथाओं को रोचक बनाने के उद्देश्य से और उह सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच-बीच में रख दिए हैं। इन दोहों में कई हेमचंद्र के उदाहरण भी मिल जाते हैं और कई प्रबंध चिन्तामणि आदि में भी। इसमें स्वयं सोमप्रभ के दोहे भी हैं पर अंग कवियों की कविताओं से इतना तो पता चल ही जाता है कि अपभ्रंश का बहुत व्यापक साहित्य उह उपलब्ध था और फिर यह भी कि कुछ कवियों के दोहे इतने प्रसिद्ध थे कि कई-कई गणकारों ने उद्धृत किए।

यह सत्य है कि इस विशाल साहित्य का अधिकांश नहीं मिला। पर जो मिला है वह निस्संदेह महत्वपूर्ण है।

भाषा सर्वेक्षणा

भाषा सर्वेक्षण बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण और पवित्र कार्य है। इसके लिए अधिक-से अधिक सावधानी और वनानिक तटस्थ बुद्धि की आवश्यकता होती है। हमारे देश में भाषाशास्त्र का अध्ययन का कार्य बहुत पुराना है। हमारे विद्वानों ने समय समय पर विभिन्न प्रदेशों में वाली जान वाली भाषाशास्त्र और बोलियाँ के बारे में कुछ उल्लेखयोग्य काम किया है। परन्तु लिखित रूप में उनसे भिन्न श्रेणी का काम है। यह केवल कुछ बोलियाँ के नाम गिनाना या व्याकरण बनाने का काम नहीं है। यह उससे भिन्न भी है और अधिक महत्त्व का काम भी है। आधुनिक युग में हमारे देश के भाषा सर्वेक्षण का काम उन सभी भाषा-शास्त्रियों के अन्तिम चरण से शुरू हुआ है। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों ने इस देश की भाषाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए थोड़ा-बहुत काम बहुत पहले ही शुरू कर दिया था, लेकिन सन् १८७८ ई० तक कोई ऐसा भी काम नहीं हुआ था जिसे आधुनिक दृष्टि से एक अच्छा कटौलाग भी कहा जा सके। यूरोपियन भाषाशास्त्रियों में जिन लोगों ने भाषा के विषय में जानकारी प्राप्त कराने का प्रयत्न किया उन्होंने बहुत-कुछ अटकल का ही सहारा लिया। किसी किसी ने इस देश की भाषाशास्त्रों की संख्या ५०-६० बताई और किसी ने २५० तक। परन्तु १८७८ ई० में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० क्लेन ने पहला गान्धार प्रयत्न किया और अपनी खोज का विवरण **MODEPN LANGUAGES OF THE EAST INDIES** नामक ग्रन्थ में प्रकाशित कराया।

यस पुस्तक में पहली बार भाषा शास्त्रीय सूत्र वक्त्र के साथ इस देश की भाषाशास्त्रों का वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। उनका यह प्रयत्न अपूर्ण ही था क्योंकि किसी एक व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना भी बड़ा पंडित हो

सम्पूर्ण भारत की भाषाभाषा का सर्वेक्षण एक प्रगल्भ कार्य ही है। फिर भी डॉ० मल्ल का काम बहुत ही गहन और गहरा था क्योंकि उसने विज्ञान की प्रयोगशाला का दृष्टिकोण अपनाया था।

सन् १८८६ ई० में विज्ञान में प्रारम्भिक कार्य की पहिचान करके डॉ० मल्ल इस कार्य में गम्भीर थे। इसी कार्य के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० टर्नर ने प्रस्ताव दिया कि भारत सरकार के पास न समझा जाय। यह प्रस्ताव में भारत सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह भारतवर्ष की भाषाभाषा का A DELIBERATE SYSTEMATIC SURVEY करायें। कार्य में यह प्रस्ताव सर्वगम्भीरता से काम हुआ जिसका भारत सरकार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कई मासों के विचार विमर्श और सलाह-मशविरों के बाद सन् १८८६ ई० में भारत सरकार ने इस महान् कार्य के लिए दृढ़ संकल्प लिया। उस समय भारतवर्ष की भाषाओं की तीस करोड़ चालीस लाख बोलती थी जिसमें बाईस करोड़ चालीस लाख लोग ब्रिटिश इण्डिया के ही निवासी थे। यह सर्वेक्षण का काम प्रसिद्ध विद्वान सर जॉर्ज ग्रियसन को सौंपा गया। इस प्रकार वर्षों के कठिन परिश्रम से भारतवर्ष का पहला सर्वांगीण भाषा सर्वेक्षण प्रस्तुत हुआ। इस सर्वेक्षण के आधार पर पता चला कि भारतवर्ष में १६६ भाषाएँ और ५४४ बोलियाँ हैं। परन्तु यह सर्वेक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण होत हुए भी अशुद्ध नही कहा जा सकता। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद कई बार यहाँ अनुभव किया गया है कि भाषा सर्वेक्षण का काम फिर से और नये सिरे से करना चाहिए। परन्तु नई परिस्थितियों में भाषा के साथ भावावेग अनुचित भासक्ति और राजनीतिक हानि लाभ की भावना इतनी जुड़ गई है कि वैज्ञानिक-नटस्थ दृष्टि बनने में बराबर कठिनाई अनुभव की जाती रही है। परन्तु कठिनाई कितनी भी क्या न हो भाषा सर्वेक्षण का महत्वपूर्ण कार्य स्थगित नहीं किया जा सकता। कुछ न-कुछ राजनीतिक लाभ हानि की भावना और भावावेग तो हमेशा बना ही रहेगा। ग्रियसन के भाषा सर्वेक्षण पर भी यह आरोप लगाया गया था कि उसमें तत्कालीन भारत सरकार की साम्राज्यवादी नीति काम कर रही थी। आवश्यकता है यथाशक्ति शुभ बुद्धि, निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि और सच्चे ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा की। जिसके भीतर ये बातें हागी वही इस कार्य को ठीक ठीक कर सकेगा। भारतवर्ष अब स्वाधीन हुआ है। अब हमारी सभी भाषाएँ और सभी बोलियाँ अपनी हैं। हमारा पक्षपात हो तो सभी बोलियों के साथ होना चाहिए और हाँगा। इसी शुभ-बुद्धि से इस महान् कार्य को हाथ में लेना चाहिए।

ग्रियसन ने जब भाषा सर्वेक्षण का काम शुरू किया था तो उस समय के

भाषा प्रभो विद्वानों के सहयोग से कुछ पद्धतियाँ अपनाई गई थी। उनकी जानकारी हमारे इस काम के लिए आवश्यक होगी। पहली बात यह थी कि एक परिनिष्ठित या स्टैंडर्ड कहानी दी जाए जिससे निम्नलिखित बातों के बालनबालों से अपनी भाषा में कहलवाया जाए और उसका शुद्ध लयबद्ध किया जाए। यह भी निश्चय किया गया कि उस क्षेत्र में जो लिपि प्रचलित हो उसी में वह कहानी लिखी जाए और फिर उसे रोमन लिपि में उतार लिया जाए। हर प्रकार की ध्वनि रोमन लिपि में लिखी जा सके यह प्रयत्न बहुत सावधानी से किया गया। अनेक नये चिह्नों की योजना करके रोमन वर्णमाला को अधिक-से अधिक पूर्ण बनाने की कामना की गई। स्टैंडर्ड कहानी के लिए बाइबल की PARABLE PRODIGAL SON नामक कहानी चुनी गई। परन्तु भारतीय जनता की रुचि का ध्यान रखते हुए उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सभी वर्ण, कर्कश और लिंग आ जाते हैं। प्रियाओं के भी तीनों बालों के रूप आ जाते हैं और अधिकतर सबनाम रूप भी इसमें आ जाते हैं। परन्तु आगे की बात यह थी कि अंग्रेजी न जानने वाले के लिए यह दुर्बोध्य थी। उसे अनुवाद करके हिंदुस्तानी या अन्य किसी भाषा में सप्रभाता पड़ता था और बोलनेवाला उस अनुवाद का अनुवाद करता था। इससे मुहावरतार महज स्वाभाविक भाषा का परिचय मिलना कठिन हो जाता था। यद्यपि इस कहानी के अनुवाद से व्याकरण के ढाँचे का तो पता चल जाता था किन्तु उस बोली या भाषा का जीवन्त रूप सामने नहीं आ पाता था। इस काम को पूरा करने के लिए एक दूसरी पद्धति यह थी कि बोलने वाले से उसी क्षेत्र में प्रचलित कोई लाक-कथा कहलाई गई। इसमें बोलनेवाले को पूरी स्वतन्त्रता थी कि वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक जा भी कहना चाहे कहे। इन दोनों बातों के अतिरिक्त एक तीसरी बात और स्वीकार की गई। मर जाऊँ मैं नहीं न बन्तु पहल भारतीय भाषाओं की एक परिनिष्ठित शब्द-सूची तैयार की थी जो बंगाल एगियाटिक सोसायटी के जनरल में बहुत पहल प्रकाशित हो चुकी थी। इस सूची में कुछ और शब्द जोड़कर A STANDARD LIST OF WORDS बनाई गयी। प्रत्येक बोली में इनके लिए कौन-सा शब्द प्रयुक्त होता है और इनका उच्चारण किस प्रकार का है यह जानने की कामना की गई। प्रत्येक जिला अधिकारी और पॉलिटीकल एजेंटों को ये सारी बातें अच्छी तरह समझा दी गई और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं और बोलियों के नमूने इकट्ठे किए गए और भाषा सर्वेक्षण का काम सम्पन्न किया गया।

इन नमूना का भाषा शास्त्रीय विश्लेषण बड़ी सावधानी से किया गया। मार नमूना जब भिन्न गये तो देखा गया कि इनमें भाषाभाषी की संख्या २३१ है और बोलिया की ७७४। बाद में छानबीन करने पर मालूम हुआ कि यह संख्या ठीक नहीं है क्योंकि कई बोलियाँ दो या अधिक जिला में बोली जाती हैं। इसीलिए कई बोलियाँ का नाम दो या तीन बार भी आ गया है। इन सबका भाषा शास्त्र की कसौटी पर कस कर देखा गया तो पता चला कि भाषाभाषी की संख्या वस्तुतः १६६ है और बोलियाँ की १४४। परन्तु गलती की सम्भावना इसमें भी है क्योंकि सन् १९२१ की जनगणना में इन्हीं भाषाभाषी पर भाषाभाषी की संख्या १८८ बताई गई है।

स्पष्ट है कि जिला अधिकारियों और पालिटिकल एजेंटों ने जिन लोगों का इस काम के लिए नियुक्त किया वे सभी भाषा शास्त्रीय नियमों के जानकार नहीं थे। इस काम में अधिकतर पटवारियों और पोस्टमैन जैसे लोग शामिल हो गई। कई बार तो ऐसी बोलियाँ का पता चला जिनको जानने वाला कोई पता लिखा आत्मीयता ही नहीं। हिमालय में एक ऐसी बोली का पता चला जो निम्बता परिवार की थी। उसके बोलनेवाले बहुत थोड़े लोग थे जो तिब्बत से आकर वहाँ बस गये थे। उनकी भाषा आस पास के लोग बिल्कुल नहीं समझते थे। लेकिन उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने उसके नमूने भी पेश कर ही दिये। ग्रियसन ने लिखा है कि उस बोली का नाम Was a solemn procession of weird monosyllables wandering right across a page अर्थात् एकाक्षरिक गदा की लम्बी कतार थी जो पूरा पन्ना घेरे हुए थी। मूढ़ मार कर भी ग्रियसन इस नाम का कोई क्लृप्ति नारा नहीं खोज सका। दोबारा पूछ-ताछ करने पर रहस्य का पता लगा। पूछनेवाले राजकम चारी ने उस बोली के बोलने वाले से पूछा कि तुम्हारी बोली का नाम क्या है? उसने अपनी बोली में उत्तर दिया कि मैं कुछ भी नहीं समझ रहा हूँ कि आप पूछना क्या चाहते हैं—“I don't understand what you are driving at?” कमचारी महादय ने इस पूरे वाक्य का उस बोली का नाम समझ लिया। ऐसी ही कहानियाँ और भी हैं। इस कहानी से आप आसानी से समझ सकते हैं कि कमचारी महोदय ने भाषा का नमूना कसा सग्रह किया होगा।

एक विचित्र बात यह है कि हिंदुस्तान की अधिकांश जनता यह नहीं जानती कि वह कौन सी बोली बोलती है। कम से कम ग्रियसन के समय तो यही अवस्था थी। हर बोली का नाम उसके पडासिया का दिया हुआ है। पंजाब के दक्षिण और बीकानेर के उत्तर में एक बोली बोली जाती है उसका

नाम है जगली । पर तु बालने वाला म से कोई भी अपनी बोली जगली' कहने का तयार नहीं हुआ । पड़ोसिया न ही उसको यह नाम दे रहा था और लिग्विस्टिक सर्वे म वह नाम उजागर भी हा गया । मेरी अपनी बोली का नाम भोजपुरी है । परन्तु गाव के लाग यह नही जानते कि उनकी बोली का नाम भोजपुरी है । यह नाम अंग्रेज सिपाहिया का दिया हुआ है । कुछ नाग एक मामा य भाषा का नाम जानते हैं और उसी से अपनी बोली का भी परिचय दे दिया करते हैं । भाषा सर्वेक्षण का काम करनेवाला का इन सब बातों का सामना करना पड़गा । हो सकता है कि लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया म लिये हुए नामा म अधिकांश कल्पित या वनायटी जान पड़ । आपको बड़ी सावधानी के साथ सही स्थिति का पता लगाना होगा । पड़ोसियों के लिये हुए नाम कभी कभी घणा सूचक या उपहास सूचक होते हैं । जमे बगाली लोग पूर्वी बिहार वाला की भाषा को खोटा भाषा कहते हैं और स्वयं बिहार वाले मधिली का छिकाछिकी । कहने का मतलब यह है कि केवल दूसरा की बात पर अंध भाव से विश्वास करने की जरूरत नहीं है । स्वयं विश्लेषण करके उचित तथ्या का पता लगाना चाहिए ।

भाषा सर्वेक्षण करनेवाला के सामने एक प्रश्न यन् भी रहा है कि भाषा और बोली का अंतर कैसे किया जाए । यूरोपियन विद्वानों म एक मायता यह रही है कि बोली विभिन्न क्षेत्रों की घरेलू भाषा है । कई बोलिया के लोग अपनी व्यवहार के लिए एक मामा य भाषा का व्यवहार करते हैं जिसे सभी बोलिया के बोलनेवाले समझ जाते हैं । यह मायता व्यावहारिक दृष्टि से ठीक कही जा सकती है । पर भाषा शास्त्रीय कमीटी पर ठीक नहीं उतरती । प्रियमन न कहा है कि लगभग समूचे उत्तरी भारतवर्ष म लोग एक सामा य भाषा हिंदी हिंदुस्तानी को समझ लेते हैं फिर भी भाषा शास्त्रीय दृष्टि से मधिली भाजपुरी कमायूनी गन्वाली भाषाएँ एक नहीं हैं । उनका परिवार अलग है । साधारणतः क्रियापद सबनाम और वाक्य रचना से परिवारों के भेदक लक्षणा का ज्ञान होता है । हमारे सविधान म चौन्ह (अथ पंद्रह) भाषाएँ मानी गई ह । पर भाषा शास्त्री इसे व्यावहारिक भेद ही कहेगा । भाषा शास्त्र की दृष्टि म हिंदी और उर्दू अलग भाषाएँ नहीं है । हिंदी का लिखा जानेवाला भाषा शास्त्रीय रूप भाजपुरी और अवधी के उनना निकट नहीं है जितना पंजाबी या गुजराती का म् । इसी प्रकार बिहार की भाषाएँ बंगाल के अधिक निकट हैं । इस ज्ञान की अधिक सावधानी से जाँच होनी चाहिए कि विभिन्न बोलिया का असली परिवार क्या है । इस विषय सामयिक राजनीति का यथासम्भव दूर

रखना चाहिए। राजनीति बदलती रहती है भाषा अधिक स्थायी वस्तु है।

जिस क्षेत्र के भाषा सर्वेक्षण का कार्य आप करन जा रहे है उसका गठन ही भाषा के आधार पर हुआ है। कुछ दिन पूर्व तक 'पंजाब बहुत बड़ा क्षेत्र था। दश विभाजन के बाद वह आधा स भी कम रह गया। अब नये सिरे स जिस राज्य को हम पंजाब कहत है वह बिल्कुल पंजाबी भाषा भाषी क्षेत्र है। इसके वर्तमान रूप की कहानी आप सबको मालूम है। पर इस तथ्य से आपका काम मासान नहीं हो जाता। पंजाबी यहाँ की मुख्य भाषा है। पर और भाषाएँ यहाँ है ही नहीं यह नहीं समझना चाहिए। जिस भाषा या बोली के बोलने वाल दस आदमी ही हो वह भी भाषा और बोली ही है। लिग्विस्टिक सर्वे का कार्यकर्ता उसे भूल नहीं सकता और न उपेक्षा कर सकता है। उससे भाषाओं और बोलियों की सख्या अधिक बढ़ जा सकती है फिर भी पंजाबी भाषा का महत्त्व उससे घटनेवाला नहीं है। भाषा सर्वेक्षण बनाविक अध्ययन है। व्यवहार के क्षेत्र में उसके संबन्धों प्रकार व उपयोग हो सकते है। उत्तरी अमेरिका की राजभाषा अंग्रेजी है। वही वहाँ की मुख्य भाषा है पर भाषा सर्वेक्षण से पता चलता है कि वहाँ अंग्रेजी के सिवा लगभग २५ परिवारों की ३४५ भाषाएँ बोली जाती हैं। कॅनोय अमेरिका और मक्सिको में २० परिवारों की कोई ८४ भाषाएँ हैं और दक्षिण अमेरिका में लगभग ७७ परिवारों की ७७६ भाषाएँ बोली जाती हैं। कुल अमेरिका में १२२ परिवारों की १२०५ भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें अंग्रेजी या अन्य यूरोपीय भाषाओं का नहीं जोड़ा गया है। इससे स्पष्ट है कि भाषा सर्वेक्षण करनेवाला न छोटा-सा छोटे समुदाय की भाषा को भी छाड़ा नहीं है। पर इस बड़ी सख्या से अंग्रेजी के राजभाषा होने में कोई बाधा नहीं आती। इस विनाल सख्या का दरात हुए भारतवर्ष की १६६ भाषाएँ और ५४४ बोलियाँ बहुत कम लगती हैं।

ग्रियमन के भाषा-सर्वेक्षण की खर्चा हम कर चुके हैं। दूसरा भाग में छोटा छोटा जिला या तहसीला को लेकर उनका सर्वेक्षण किया गया है और भाषाओं या बोलियों के एन्लम तयार किए गए हैं। १८२१ से पहले हमलर ने बवरियन उपभाषाओं का काम किया था। १८७३ में स्कॉट नामक अंग्रेजी विद्वान ने इन्डो-इयान्तीय भाषाओं की स्थापना का भी। और इयान्तीय की बोलियों का एन्लम तयार किया था। १८७६ में जमन पन्ति जाज वैकर ने राज्यों की बोलियों का सर्वेक्षण किया था और बाद में पूर जमनी की सरकारों में भाषाओं में और स्कूलों में शिक्षकों के उत्साहपूर्ण सहयोग से भाषाओं का बहुत शानदार काम किया था। पर विद्वानों की इस कार्य में सन्नाह नहीं हो सका

क्याकि सह्याण दनवाला म उत्साह तो बहुत था पर इस विषय का प्रणिष्ण नहा मिला था। और भी बहुत काम हुए हैं। इनका नाम गिनाना यहा अभिप्रेत नहीं है। परन्तु १६२६ ४३ के कनाडा के यू इग्लड के कुरथ द्वारा बनाय हुए एन्लम की चचा कर देना उचित समझना है। भारतीय भाषाभा के विभिन्न क्षेत्रा म भी कुछ काम हुए हैं। वस्तुतः क्षेत्रीय भाषाभा के अध्ययन की यह भाषा-शास्त्रीय गाथा (जिमे लिग्विस्टिक जियाग्रफी या भाषा भूगोल नाम दिया गया है) काफी महत्वपूर्ण बन गई है।

अब तक इस विषय पर जिन लोगो ने काम किया है वे थोड़े-बहुत भेद क साथ मोटी तौर पर एक ही पद्धति से काम करते रहे हैं। जिस क्षेत्र का अध्ययन करना हाना है उसे कई विभागों मे बांट लिया जाता है और वहाँ की सामाजिक और अर्थ परिस्थितिया की मोटी रूप रेखा बना ली जाती है। यह जरूरी है। इसलिए कि जिस क्षेत्र म काम करना हा उसके सामाजिक धार्मिक विश्वासा अ धविश्वासा और रीतिरिस्मा की जानकारी न हान म कार्यकर्ता को कभी-कभी बर्ण कर्नादया का सामना करना पडता है। उस बोली के प्रतिनिधि बर्ण का विश्वास अजन करना पडता है, नहीं तो यदि लोग उसे सदेह की दष्टि से देखने लगे तो ठीक उत्तर नहीं देने या बिन्कुल सह्याग नहीं करत। आजकल इस पद्धति को फील्ड मैण्ड कहा जाता है और इस पर अनुभवो लागा ने पुस्तकें भी लिखी हैं। भाषा का अध्ययन पात्र दष्टिया से किया जाता है—ध्वनि रूप शब्द वाक्य और अर्थ। ऐसी कहा-निया लोगो से कहलान के लिए चुनी जानी चाहिए जिनम भाषा के य सभी रूप मिल जा सकें। यह ध्यान म रखना बहुत आवश्यक है कि जिस व्यक्ति स मूच नाए सग्रह की जा रही हा वह ययासम्भव बाहरी बोलिया या साहित्यिक भाषा से प्रभावित न हा। पहले केवल सग्रहकर्ता के मुनन और ठीक-ठीक लिख सकन की क्षमता पर ध्यान दिया जाता था अब टप-यत्रो के आविष्कार के बाद से इसकी सहायता ली जान लगी है। पर अनुभव से देखा गया है कि कभी-कभी इस यत्र का ही मूना की बरामात मान लिया गया है और सग्रहकर्ता को परेशानी उठानी पडी है। पिछडे इलाकों में इस बात की अधिक आगवा होनी है। इसीलिए सावधानी बरनन की आवश्यकता हानी है। भाषाभा और बोलियों की विभाजक रेखाभा के निरचयन के लिए आन्मोगनाम या आद माकान पद्धति प्रचलित है। इससे उस विभाजक रेखा का पता लाता है जहाँ म भाषा म परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट हान की आर भुक्नु नगत हैं। इस विषय के जानकारी अब हमारे देश म बहुत ता नहीं पर ~~मिथ भाषा~~ मवेषण

प्रारम्भ करती व पुनः हम पुनः पूर्ण विज्ञान व अनुभव और प्राचिन पद्धतियाँ पर मावधानी से विचार कर लेना चाहिए। भाषा और बोलिया व नक्शा की मान्यता बहुत महत्व दिया जाता है। ध्वनि गन्ध वस्त्व विषय अथ प्राणि की रेखाएँ प्रायः भिन्न भिन्न क्षेत्रों की लिया करती हैं। फिर भी कुछ एक स्थान होते हैं जहाँ वे प्रायः भिन्न जाती हैं और पाम-पाम प्रा जाती हैं। इन्हीं मिस्री हुई या सगी हुई रेखाएँ से बोलिया का क्षेत्र विभाजन होना है। पर सितनी भी मावधानी क्या न करनी जाए, स्पष्ट विभाजन रखा प्रायः कल्पित गया ही होती है। भाषा एक जीवन्त तत्त्व है। उस भौतिक पद्धतियाँ से सीमा बद्ध करना कठिन है। प्रायः एक क्षेत्र की विशेषताएँ दूसरे में मिल जाया करती हैं। भाषा सर्वेक्षण के समय यह सत्य याद रखना चाहिए कि बहुत गुरुमार प्राणवत् वस्तु की जाँच की जा रही है।

पञ्जाब राज्य कई बार विभाजित हुआ है। पाकिस्तान के बाद जा विभाजन हुआ उससे भाषा विषयक उथल पुथल हुई है और पुरानी परिस्थितियाँ में बड़ा अन्तर आ गया है। विभिन्न बोलियों के बोलने वाले भुक्त-भुङ लोग इधर से-उधर और उधर से इधर आ गए हैं। पञ्जाबी भाषा गद् के पुराने अर्थों में अन्तर आया है। किसी समय सिराई की हिन्दकी के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। सिराई की गद् का अर्थ है ऊँची भूमि की भाषा। सिराई ऊँची भूमि को कहते हैं। परिनिष्ठित लहदा जिसे लायलपुर में अधिक परिनिष्ठित रूप में पाया जाता है कभी पञ्जाबी भाषा के नाम पर समझी जाती थी। लहदा या लहदी का अर्थ पश्चिमी है। यह मूर्धन्य के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। पूरे पञ्जाब के पश्चिमी भाग की भाषा को यह नाम दिया गया था। वस्तुतः लहदा की 'गली' अर्थात् पछाही भाषा से अंग्रेज अधिकारियों ने इस शब्द को ल लिया था। कभी हिन्दुआ की भाषा होने के कारण हिन्दकी जाटा की भाषा होने के कारण जटकी उच्च वस्त्व के नाम पर इसे उच्च की नाम दिया गया। प्रियसक्त न ही इसके परिनिष्ठित रूप को सुपरिभाषित नाम दिया। उनके अनुसार इनके बोलने वालों की सरया कोई ४८००० के आस पास थी। अब कितने लोग हैं कितना बान्तर चले गए हैं और कितने अर्थ क्षेत्रों से आकर लहदा भूमि में आकर बस गए हैं इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं है। आज पञ्जाबी शब्द का प्रयोग साहित्यिक भाषा के लिए अधिक रूप हो गया है। परिनिष्ठित पञ्जाबी का गुद्ध भाषावैज्ञानिक ढाँचा केन्द्रीय पञ्जाब के मदाना में है। अमृतसर के आस पास का इलाहा मध्यभूमि का माझ कहा जाता था। माझ की भाषा माझी के अति ग्लित जालधरी दोषावी पावाइ राठी मालवाई भट्टियानी (जिसमें बोकानेरी

राणी, फाजिल्वाई बागडी फिरोजपुरी, राठौरी है) आदि से प्रचुर उपादान लेकर साहित्यिक परिनिष्ठित पंजाबी का गठन हुआ है। विभाजन के बाद इसमें कौन-कौन नए उपादान आए हैं, यह आज के प्रयत्ना से स्पष्ट होगा। पारिस्थानी पंजाब की अनेक बालिया के बोलनेवाले इन प्रदेशों में आ बसे हैं। निश्चय ही भाषा उनके सम्पर्क से प्रभावित हुई होगी।

भाषा का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आत्मानुभूति प्रदान को स्पष्ट करता है। यह उचित ही है कि भाषा के सर्वेक्षण के साथ साथ हम सांस्कृतिक सर्वेक्षण का और भी अध्ययन करें। भाषा में प्रयुक्त एक-एक शब्द, एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, कुला या खानदानों के नाम पुगने गावा के नाम जीवन्त इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति रिवाज, पहनाव, मेले, गान नर्च पर्व त्योहार उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुना जाते हैं। यह आश्चर्य और कुतूहल की ही नहीं उल्लास और आत्मा की बात है कि उपरले स्तर पर जहाँ इतिहास हमें लड़ाई भगड़े और मारा मारी की बात बताते हैं वहीं गहराई में हमारे शब्द हमारे स्वराधान, हमारे गाव हमारे त्योहार हमारे मन भजा उठाकर घाषणा करते हैं कि उपरले स्तर पर जहाँ राज्यलिप्ता है भगड़े है धक्का मुक्की है वहीं गहराई में मिलन की तयारी होती रहती है। मनुष्य मिल रहा है लड़ रहा है एक हो रहा है। कभी पंजाब में नागा का और आर्यों का कितना भयंकर संघर्ष था—दमक आभाम हम महाभारत के अर्जुन द्वारा दिए गए पाण्डव वन गृह और जनमेजय द्वारा अनुष्ठित नाग यज्ञ से मिलना है। न जान कब वह संघर्ष कहा बिला गया पर नागा के देवता या उनके आठ कुला में से एक के नेता कर्कोट या गगोट आज भी गुगा पीर या गोगा पीर के नाम से पूजे जा रहे हैं। पुरानी यश सभ्यता पता नहीं कहाँ चली गई पर मनर काटला (कोटला-काटर) में गाना-गिया से चली आती हुई यह रात्रि का उत्सव आज भी मुस्लिम सत्ता के संरक्षण में जी रहा है। हिमालय में दूर-दूर तक फली हुई खस जाति अब कहीं है या नहीं यह पण्डितों के अध्ययन का विषय बना हुआ है पर खसपल्ली कमौनों के रूप में जी रही है और स्मरण लाती है कि किसी जमाने में खस यहाँ बसते थे। अम्बाला से जालंधर तक न जान कितने गांव मन्त्र पर ही भिन्न जाते हैं जिनके अन्त में आला लगा हुआ है। बुधियाना का पुराना नाम भी क्याचित्त बुधियाना था और वण विषय से उसी प्रकार बुधियाना बन गया है जिस प्रकार नफासा पमद लोग के मुंह में नवलऊ नखनऊ बन जाना है। क्या गांवों की यह नामावली किसी विशेष सभ्यता की सूचना नहीं देती? कौन-सी सभ्यता या

की कठिनाइयाँ से जूझकर आगे बढ़ने की, सब प्रकार के क्षुद्र स्वार्थों की अपथा दश हित को ऊपर रखने की और आवश्यकता पड़ने पर देश के कल्याण के लिए सब कुछ को निछावर कर देने की परम्परा मामूलो परम्परा नहीं है। हम दृढ़ता और आस्था के साथ इस परम्परा को कायम रखना है। देश के सामने जो नई परिस्थितियाँ आई हैं नवीन शक्तियाँ से युक्त होत से जो नई उलझने पैदा हुई हैं उनके लिए आज के युवकों को नये ढंग से प्रस्तुत होगा। इस विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को स्मरण रखना होगा कि उसे अपने विश्वविद्यालय के महान सस्थापक की आज्ञाओं के अनुसृत बनना है।

परन्तु यह नई उलझने क्या है? हमारी सम्यता हजारों वर्ष पुरानी सम्यता है। इसके गुण और अवगुणों की जड़ गहराई तक पैठी है। नई शिक्षा के पतनस्वरूप हमारे समाज के सोचने विचारने वाले अंश में नई दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है जो सब समय इस शिक्षा से अपरिचित जन समूह की दृष्टि से मेल नहीं रखती। नई शिक्षा ने हमारी दृष्टि धीरे धीरे परलोक से हटाकर इसी मृत्युलोक के मृत्युजीवन की ओर केन्द्रित कर दी है। हमने तबसे यह अनुभव करना शुरू किया है कि मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाना ही हमारा महान कर्तव्य है। इस दृष्टि के प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप जीवन की प्रत्येक क्रिया और विचारा के मानों में परिवर्तन हुआ है। जिस समाज-व्यवस्था को पहले यान पूर्वक सुरक्षणीय माना जाता था उसके प्रति शिक्षिता की आस्था तबसे क्षीण होनी आ रही है। सिद्धान्त रूप में हमने मनुष्य मात्र की समता और उस समी जीवन में सुखी और समृद्ध बनाने की बात स्वाकार कर ली है। अपने विधान में हमने देश के प्रत्येक प्राणी को यह समानता का अधिकार दे दिया है। किन्तु हमारे पुराने संस्कार भी बने हुए हैं। पुराने संस्कारों के साथ नये विचारा का विचित्र मिश्रण चल रहा है। सब समय सबके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जीवन-व्यापारा का जो मान परिवर्तित हो रहा है उनका वास्तविक स्वरूप और उपयोगिता क्या है। इस बात की ठीक ठीक जानकारी के लिए गम्भीर अध्ययन और प्रनामन दृष्टि की आवश्यकता है। अतएव हमारा सत्य प्रयत्न बनना है गम्भीर अध्ययन और प्रनामन दृष्टि की प्राप्ति। देश और मानव मृत्युलोक मनुष्य के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म अध्ययन करते ही हम उनका विचारा और क्रिया का अर्थात् स्वरूप समझ सकते हैं और यथार्थ बात या बात स्पष्ट माना की वास्तविक गति और उपादेयता जान सकते हैं। इसके लिए अत्यन्त परिश्रम की आवश्यकता है। सभी अध्ययन के द्वारा हम अपनी समझाओं का ठीक ठीक स्वरूप समझ सकते हैं। अतएव गम्भीर अध्ययन हमारा प्रयत्न

कतव्य है। हम लोग इस विश्वविद्यालय में मुख्य रूप से इसी उद्देश्य से एकत्र हुए हैं। इस बात को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए।

किन्तु विश्वविद्यालय में हम केवल ज्ञान पा लेने के उद्देश्य से ही नहीं आते। ज्ञान का यथाथ अधिकारी बन बिना कोई ज्ञान नहीं पा सकता। इसलिए हमें अधिकारी भी बनना चाहिए। जिसमें श्रद्धा नहीं होती और तपस्या नहीं होती उस ज्ञान नहीं देना चाहिए—यह प्राचीन आचार्यों का निर्देश है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जो अधिकारी नहीं है जिसमें तप और भक्ति नहीं हो उसे यह ज्ञान नहीं देना चाहिए और आधुनिक अनुभव बताता है कि ऐसे अनधिकारी को यदि यह ज्ञान दिया भी गया तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

गम्भीर अध्ययन के लिए सयत् जीवन की आवश्यकता है। पिछले कुछ वर्षों के शिक्षा विशारदों के मत का विश्लेषण किया जाए तो ज्ञान पड़ेगा कि विद्यालयों की अनुशासनहीनता सबसे अधिक उनकी चिन्ता का कारण रही है। यह बड़े दुःख की बात है क्योंकि यदि सचमुच ही देश की उमंगें हुई पीढ़ी में अनुशासनहीनता आ गई है तो देश का भविष्य अधकारमय है। जिनमें आरम्भिक जीवन में विचारगत समय और आचारगत मर्यादा की बात नहीं सीखी वह आगे चलकर क्या सीखेगा। बड़ी चीज का दाम भी बढ़ा होना है। जिस गम्भीर अध्ययन और अनुशासन के लिए हम विश्वविद्यालयों में एकत्र होते हैं उसके लिए बहुत बड़े मूल्य चुकाने की आवश्यकता है। वह मूल्य रुपये पसों में नहीं चुकाया जा सकता। आत्मदान ही उसका यथाथ मूल्य है। ज्ञान का प्राप्त करने के लिए बड़े समय की आवश्यकता होती है और समय वह वस्तु नहीं है जो अनायास प्राप्त हो जाए। उसके लिए प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्य का सहज धर्म है। इसलिए प्रयत्न से धरना नहीं चाहिए। साधारणतः इस विषय का सारांश विद्यार्थियों के मध्य में दिया जाता है। पर सचार्थ यह है कि विद्यार्थी केवल पुस्तकों में लिखे हुए या बड़-बूढ़ों के कहें हुए उपदेशों से शिक्षा नहीं ग्रहण करता—ठीक उसी प्रकार जिन प्रकार वन केवल दूसरों के हाथ में ढरकाए हुए पानी से जीवन नहीं पाता—वातावरण से भी उसे रस लेना पड़ता है। वन तभी स्थायी होता है जब वह वातावरण से सहज भाव से रस लेता रहता है। हमारे देश के अधिकांश विद्यालयों में इस प्रकार के वातावरण की कमी है जहाँ से विद्यार्थी का सम्यक्त विचार और मर्यादित जीवन की सहज शिक्षा मिल सके। उस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता है। पर यह हम कैसे ? जब तक विद्यालय का प्रत्येक प्राणी प्रयत्नपूर्वक समस्त विचार और

मर्यादित जीवन का अभ्यासी नहीं होता तब तक वातावरण नहीं प्रस्तुत होता और जब तक वातावरण नहीं प्रस्तुत होता तब तक विद्यार्थी सहज ढंग से अनुगमित जीवन की गिना नहीं पा सकता। दोनों परस्पर माप हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर सावधान रहना चाहिए। वातावरण बनाने के लिय प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। सत्य और मर्यादित जीवन से मनुष्य धार्मिक बनता है।

हमारे विश्वविद्यालय के संस्थापक ने बार-बार धर्ममय जीवन पर जोर दिया था। विश्वविद्यालय के बारहवें उपाधि वितरणावसर के अवसर पर उन्होंने कहा था कि हम धर्म को चरित्र निर्माण का सीधा माग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को उच्चकोटि की निस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है। उन्होंने इन्हीं दो बातों के आधार पर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में चरित्रवत्ता पैदा की बात सोची थी। आज जब समूचे देश में अनुशासन के अभाव का चान बही जा रही है तो कम से कम हिंदू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों तथा अन्य लोगों को तो अपने संस्थापक के महान आदर्शों को मूल रूप देने का प्रयत्न ही करना चाहिए।

देशभक्ति शब्द का प्रयोग तो बहुत होता है पर बहुत कम लोग समझते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है। देश की सेवा कहने से भी यह सब मान नहीं प्रकट होती जो देशभक्ति शब्द का प्रतिपाद है। यह केवल मानविय नहीं है। देश सेवा का अर्थ है देश के कानि-कांति लोगों का अज्ञान, कुगिना, आदिद्रव्य और परमुपासीता से बचना। जिसके मन में यह बड़ा संकल्प पैदा जाए कि वह कभी निचली श्रेणी के स्वाय का गिकार नहीं हो सकता। हम देश की समूची जनता का ठीक-ठाक समझने के लिए हम देश के इतिहास का जानकारी आवश्यक है। इस देश की समस्त प्राकृतिक शक्तियों का—जंगल, पहाड़ों का सन्निधि का नदियों का—ठीक ठीक ज्ञान अपर्याप्त है। इसका सर्वोत्तम उपयोग पहले किया जाए हम कोशिश की जानकारी भी जरूरी है और हम में क्या हुई संकल्प जागृत उपजागृत शक्ति और जमाना के आचार विचार धर्म नियम राजनीति का अध्ययन भी आवश्यक है। जो हम विज्ञान देश का सेवा करना चाहता है उस इंगरी समाज-व्यवस्था का मूल परिचय से समझना चाहिए। मनुष्य लिए गम्भार अध्ययन और अविचल अनुशासन का आवश्यकता है। जिना ठीक मनुष्यवर्ति का समझे देश-सेवा करने का काम मन में से गानी नगा *। विश्वविद्यालय ही हम प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के उत्तम केंद्र हैं।

विश्वविद्यालय की गिता का उद्देश्य है जनता का ठीक-ठीक समझना और समझकर उचित कल्याण मार्ग की ओर ले जाना ।

परन्तु दश-सवा ही दशमक्ति नहीं है । यदि सवा करनेवाले के मन में कोई गम्भीर भावना हो कि वह कुछ उपकार करता है, दया करता है तो वह देश की जनता की ठीक सेवा नहीं कर सकता । इसलिए हमारे संस्थापक ने 'देन भक्ति' गुरु का प्रयोग किया था । देन की जनता में अश्वत्थ विश्वास और श्रद्धा के भाव लेकर ही हम उसकी सेवा कर सकें तो अच्छा है । मनुष्य की सेवा में ही परमात्मा की सेवा है । हम भूलना नहीं चाहिए कि विश्वविद्यालय में ज्ञान की माधना बहुत ही पवित्र है । जितना ही हम इस पवित्रता का ध्यान रखेंगे उतना ही हमारा अध्ययन गम्भीर होगा । इस पवित्र वस्तु की स्मरण रखने से हमारे अध्ययन में गम्भीरता, उत्तरदायित्व और कल्याणवृद्धि आएगी और हमारे मानस अनासक्त और अनाविल दृष्टि प्रतिष्ठित होगी ।

हिन्दी पर वैष्णव धर्म का प्रभाव

मध्य युग में भक्ति की एक नई धारा भारतीय महाद्वीप में इस छोर से उस छोर तक बह गई और देखते देखते इस विशाल देश को एक नये रूप में वस्त्र दिया। भाषाशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डाक्टर ग्रियसन^१ मध्ययुग के इस आन्दोलन के सम्बन्ध में कहते हैं— 'विजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (अर्थात् पुराने धार्मिक मता के) अधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह बात कहा से आई कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता किन्तु वे सभी शास्त्रीय ग्रन्थ जो इस (भक्ति) के सम्बन्ध में लिखे गये हैं और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है, ईसाई सन के बहुत बाद लिखे गये हैं। इसीलिए डाक्टर साहब इस नयी बात का अनुभव कर सके हैं।^२ आपका कहना है कि यह बात मद्रास प्रांत में आकर बस गये नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइया से ग्रहण की गई है। यही विद्वान एक दूसरी जगह लिखते हैं— कोई भी मनुष्य जिस १५वीं शताब्दी का भारतीय साहित्य पढ़ने का अवसर मिला है उस भारी व्यवधान का लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो प्राचीन और नयी (धार्मिक भावनाओं) में विद्यमान है। हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो

१ ग्रियसन Modern Hinduism and its debt to the Nestorians
Journal of the Royal Asiatic Society (J R A S) Page
313 1907

२ Grierson Bhaktimarga Encyclopedia of Religion and
Ethics Vol 2 1909

उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है—यहां तक कि वह बौद्ध धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। धर्म ज्ञान का विषय नहीं, रस (Emotion) का विषय हो गया था। इस समय से हम माधना और प्रमोदना (Mysticism and rapture) के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो वाणी के दिग्गज पंडितों की जानि की नहीं है, बल्कि जिनका सम्बन्ध मध्ययुग के यूरोपियन मरमी (Mystic) बनड आफ क्लेयरवॉक्स (Bernard of Clairvaux), थॉमस ए-केम्पिस (Thomas a Kempis), एक्वर्ट (Ekbert) और सेंट थेरिसा (St Theresa) से है।^१ डाक्टर प्रियसन के इन दो उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन संसार के इतिहास में ब्रेजोड है। जसा कि डाक्टर साहब न बताया है, इस युग का धर्म, ज्ञान का विषय नहीं रस का विषय है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि इस युग के धर्म और कला को अलग अलग रखकर विचार नहीं किया जा सकता। क्या वास्तु शिल्प, क्या मूर्ति शिल्प, क्या चित्रकला, क्या काव्य, क्या नृत्य और क्या संगीत—सब एक ही बात दिखाई देती है। और वह यह कि समस्त भारतीय अंतरीय एक सिरे से दूसरे सिरे तक भक्ति—विशेषकर वष्णव भक्ति की शक्तिशाली तरंग से आक्रान्त हो उठा था। इस बात का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि इसी युग में भारतवर्ष विदेशी धर्म और विजातीय सभ्यता का कल्याणजनक शिकार बना हुआ था।

प्रियसन ही को नहीं, उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ पंडितों को भी यह सन्देश हो चुका है कि भक्ति आन्दोलन ईसाइयत की दान है। बेबर और नसन ने भी यह सन्देश दिया था। डाक्टर साहब की शकामा का समाधान हमने सूर साहित्य का भूमिका में किया है। प्रियसन साहब के सामने ही भक्त भोपा के प्रकाण्ड पंडित श्यामुत (भव डॉक्टर) कीय ने उनकी प्रायः समस्त युक्तियों का खण्डन कर दिया था।^२ परन्तु जब हम मध्ययुग के उम्र रहस्यमय युग में एकाएक भक्ति

१ इन सब बातों की विस्तृत आलोचना के लिए निम्नलिखित कई प्रबंध द्रष्टव्य हैं—[1] Modern Hinduism and its debt to the Nestorians - Grierson, [2] The Child Krishna Christianity and the Gujars (J R A S 1907) [3] उक्त नाम का प्रबंध A R Keith (J R A S 1908)

आन्दोलन के प्रबल स्रोत का अनुमान करते हैं तो इन विदेशी पन्थों के इस विश्वास को आश्चर्यजनक नहीं कह सकते कि भारतीय साधना में भक्ति बाहरी उपादान है। उनका यह भ्रम स्वाभाविक है। असल बात यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के दुःख और रोगाश्रित होने पर उसकी जीवनी शक्ति एकाएक प्रबल वेग से जाग पड़ती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय सभ्यता के रोगाश्रित होने पर उसकी जीवनी शक्ति अर्थात् भक्ति साधना वेग के साथ जाग पड़ी थी। हम इस प्रश्न के ऊपर फिर विस्तृत विवेचन करेंगे।

हिन्दी-साहित्य के ऊपर वणव प्रभाव का अध्ययन एक विशाल कार्य है। मध्ययुग का हिन्दी साहित्य कुछ थोड़ा से भ्रमवादों को छोड़कर समस्त वणव साहित्य ही है। मिश्रबन्धुओं ने जिन नौ महाकवियों का हिन्दी का नवरत्न माना है जिनकी सम्पदा बाद में दस करनी पड़ी है उनमें से सात तो तब से सिख तक वणव हैं। तीन—चण्वीर और भूपण—और चाहे कुछ भी हो अर्धवणव नहीं हैं। मिश्रबन्धु वितोद के प्रथम दो भागों में जिन कवियों की चर्चा है, उनमें ८५ फीसदी पूरे वणव हैं।^१ नेप में बहुत ही कम भ्रमवणव हैं। साहित्य की धम के साथ इस प्रकार की अभ्युन्नत एकात्मता ससार के इतिहास में विरल नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वणव साहित्य और वणव साधना की एकता ससार के इतिहास में एक नयी बात है। यह बात क्या है यह समझने के लिए हम इस युग तक के साहित्यिक और धार्मिक विकास की एक साधारण जानकारी आवश्यक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही एक ऐसी कथा आती है जो विद्वानों को चक्कर में डाल देती है। इस कथा के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' नामक पाचवें वेद की रचना की थी। साधारणतया हिन्दू

१ यह वर्गीकरण इस प्रकार है—वणव कवि	८४७६ प्रतिशत
सत्त (अर्थात् शास्त्र की परवाह किए बिना भक्ति करनेवाले) ३५६	,
मुसलमान	२७५ ,
जन	२७४ ,
अप्राप्य	६१३ ,

यह सूची अपूर्ण हो सकती है। क्योंकि कितने ही कवियों के विषय में ठीक ठीक नहीं जाना जा सका कि उनकी कविता का विषय क्या है। यह ध्यान देने की बात है कि मुसलमान कवियों में से अधिकांश वणव माना पड़ते हैं और जनों में भी कुछ वणव ढंग के कवि हैं।

प्राचाय विमो नय शास्त्र की नींव डालने समय उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार वेगो में अस्तर स्थापित करते हैं। नाट्य शास्त्र की रचना के समय भी यह बात अवश्य प्रस्तुत हुई होगी। परन्तु जब कोई सीधा सम्बन्ध मिलना असम्भव हो गया होगा तब उनके कथा के बल पर एक पात्रों के ही कल्पना आवश्यक समझी गयी होगी। मामला पेचीदा इसलिए हो जाता है कि वस्तुतः वेगो में ऐसे कथोपकथनों की कमी नहीं है जिन्हें आमानी के साथ नाटको का मूल रूप कह सकते थे फिर नाट्य वेद की कल्पना शास्त्रकार ने क्या की? प्रभावशाली विचार के लगभग सभी यूरोपियन पंडितों ने इस पर अपनी अपनी राय दी है।^१ फलतः मुण्ड मुण्डे मतिभिन्ना तो हो गई परन्तु कोई उचित समाधान नहीं हो पाया।

हमारे समक्ष में इस मामले का इतना पेचीदा हो जाना एक कल्पित किन्तु भ्रममय सिद्धांत की स्वीकार कर लेने पर निम्न है। यूरोपियन पंडित यह मानकर ही चलते हैं कि भारतवर्ष में जो कुछ है वह वदो से ही शुरू होता है। हम श्री मनमाहून घोष^२ का यह मत ठीक जान पड़ता है कि नाटक इस देश में आर्यों के आगमन के पूर्व ही वर्तमान थे। परन्तु उनमें पात्रों की बातचीत नहीं रहा करती थी व अभिनय प्रधान हुआ करते थे। इन अभिनयों का काम था रस का उद्देक। आद्य-सत्तम के बाद अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन भी मिल गया। परन्तु नाटक का प्रधान उपकरण अभिनय रहता था और लक्ष्य निष्पत्ति। प्राचीन संस्कृत-नाटका में लज्जा नाट्यमति^३ वक्षसेचन नाट्यमति आदि प्रयोग इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रसिद्ध गीताकार राघवभट्ट ने वक्षसेचन भ्रमरवाधा निवारण आदि अभिनयों की भगी का भी निर्देश किया है।^४

रस नाट्य का ही विषय था इस बात का और भी स्पष्ट प्रमाण है

१ इन मतों के लिए ए० बी० कोय का 'इण्डियन ड्रामा देखिए।

२ अभिनय दर्शन की प्रस्तावना (Introduction) XXIII—XXVI

३ देखिये अभिज्ञान शाकुन्तलम राघव भट्ट की टीका (निर्णयसागर)

वक्षसेचन (पृ० २७) भ्रमरवाधा (पृ० ३४) शृंगारमञ्जा (पृ० ४०) विषाद

(पृ० ४६) मूलोन्नयनपरिहार (पृ० १०६) कुसुमावलय (पृ० ११४)

प्रस्तावना (पृ० १२६ १३२) गतिभग (पृ० १३६) भवतरण (पृ० १८६)

रघुपाधरोत्थन (पृ० १२२) विनोद व्याख्या के लिए देखिये अभिनय दर्शन में

मनमाहून घोष का Introduction।

आलंकारों की रंग मूर्त की व्याख्या । वस्तुतः मम्मट १^१ जिसे आलंकारिका का मत भारतीय नाट्यमूलक सिलसिले में उद्भूत किया है वे सभी—ला नट, पादुका भट्ट नायक और अभिनवगुप्त—नाट्य शास्त्र के ही व्याख्याता हैं और दास के मन में रसाद्रव की बात ही कहते प्रायः हैं । नाट्य में रंग की भाँति ही आलंकार स्फुट वाक्य का विषय समझा जाता था । यह ध्यान देने योग्य बात है कि आलंकार सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों—दण्डी और भास—में आलंकार की ही प्रधानता माना है । रंग की चर्चा तो वे करते ही नहीं । उनकी पुस्तिका में यह अनुमान करना बिनाुत कठिन नहीं है कि वे रस की वाक्य—अर्थात् स्फुट श्लोक—का विषय ही नहीं समझते ।^{१२}

आठवीं शताब्दी के आसपास आलंकारशास्त्र में ध्वनि-सम्प्रदाय जोर पकड़ता दिखाई देता है ।^{१३} ध्वनि या 'व्यंग्य' की वाक्य की आत्मा मान कर और ध्वनि में भी रस ध्वनि को सर्वोत्तम स्थान देकर इस सम्प्रदाय ने आलंकारशास्त्र को अभिनव जीवन दिया और एक बड़ा काय यह किया कि रस और आलंकार दोनों की नाट्य और स्फुट वाक्य में समान रूप से उपयोगी

वाक्यप्रकाश, चतुर्थ उत्तरास ।

२ इसीलिए व्यंग्य आलंकारसर्वस्व (पृ० ७) में कहते हैं—'नन्वेव आलंकार एव काव्ये प्रधानमिति प्रायशान्ता मतम् ।

३ शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं [१] अभिधा अर्थात् कोण व्याकरण सम्मत शब्द का साकेतिक अर्थ बतानेवाली शक्ति, [२] लक्षण अर्थात् संकेतार्थ से संबद्ध अर्थ लक्षित अर्थ को बतानेवाली शक्ति और [३] व्यञ्जना अर्थात् अभिधेय और लक्ष्य के प्रतिरिक्त उनसे संबद्ध या असंबद्ध अर्थ अर्थों को व्यंग्य करने वाली (Suggestive) शक्ति । सर्वप्रथम धर्मपालाक में व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) की प्रधानता का युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा की गई है । धर्मपालाककार आनन्दवदन इस मत का व्याकरणों के स्फोटवाद से उद्बभूत बताते हैं । पर स्फोट से इसका सम्बन्ध केवल इसलिये बताया गया है कि इस मत को नवीन बहुर उदा न दिया जा सके । जो हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि का जो सर्वांगपूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है वह इस बात का प्रमाण है कि इसके बहुत पूर्व ही इस मत का अस्तित्व था । स्वयं आनन्दवदन ही कहते हैं—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधय समाभ्रात पूर्व'

—ध्वन्यालोक, ११

वताया। ध्वनि सम्प्रदाय ने अलंकार प्रधान काव्य को 'अवर या अथष्ट काटि' म रखा। यद्यपि साहित्य द्रवणकार ने इसका काव्य की आत्मा बताया परन्तु असल में व ध्वनि को ही काव्यात्मा समझने रहे। मुख्य बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ध्वनि सम्प्रदाय का ही बोलवाला रहा। साहित्य द्रवण में सबसे प्रथम इस शास्त्र में नायिकाभेद का प्रवेश हुआ। यद्यपि ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस को काव्य का सर्वश्रेष्ठ उपान्त मान लिया था। परन्तु रस को इतना अधिक स्थान नहीं दिया गया कि उसमें नायिकाभेद भी मिला दिया जाए। रस रूपक विवेचना का प्रधान विषय समझा जाना था और उसी में नायिकाओं का वर्गीकरण भी सम्मिलित रहता था। यह ध्यान देने की बात है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में ही नायिका भेद और अलंकार एक साथ विविक्त हुए। यह शताब्दी वस्तुतः दली भाषाओं के साहित्य की उन्नति की शताब्दी है।

साहित्यद्रवण के बाद एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव दिखाई देता है जो रस के अनिर्वक्त अर्थ किसी बात को काव्य विवेचना का विषय समझता ही नहीं था समझकर भी उस गौण स्थान देता है। इसी तरह एक दूसरा सम्प्रदाय ऐसा दिखाई देता है जो अलंकार के अनिर्वक्त अर्थ किसी विषय की परवाह नहीं करता। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही आचार्य इन दोनों विषयों पर अलग अलग अर्थ लिखता है। परन्तु इस बात का अच्छा अध्ययन करना हो तो संस्कृत को छोड़कर देली भाषाओं के उदीयमान साहित्य की ओर देखना होगा। यहाँ वह अर्थमय बात दिखाई देती है जिसे हजारों वर्ष के भारतीय इतिहास में खोजोड कहा जा सकता है। मसाल की बात तो हम नहीं जानते—वह बहुत बड़ा है—पर हमारी जानी हुई दुनिया में यह बात अद्वितीय है। यहाँ हम देखते हैं कि रस—विशेषकर रसों के राजा शृंगार—के आलवना और उद्दीपनों का वर्गीकरण हो रहा है और उनके उदाहरणों के बहाने भगवान की लीला गाई जा रही है। आगे के सुकवि रोझिहैं तो कवि ताई न तो राधिका गुक्ति सुमिरन की बहाना है। अर्थात् कविता करने के बहाने परम आराध्य का भजन या परम आराध्य के भजन के बहाने कविता। सनित कला के मुकुमारप्राण रस के साथ धार्मिक और दार्शनिक माधना के परमलक्ष्य का इस प्रकार एकीकरण अथवा तुल्य है। इस युग की देली भाषाओं के साहित्य का मसाल की साहित्यिक माधना में यहाँ महान् दान है।

वर्गाल में सर्वप्रथम रूप गास्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि नामक मस्कन अर्थ में इस प्रकार रस का विवेचन किया। रूप गोस्वामी चतुर्थ मन्त्रप्रभु के भक्तों में से थे। उनके समय पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रतिम और सोलहवीं

मनाली का प्रारम्भ था। यही पुस्तक मनाली में प्रथम बार भक्ति और मल्लिकार्जुन नाम का एक रूप प्रकटित हो गई। 'मल्लिकार्जुन पञ्च जयदेव विद्यापति और मणिकान्त' क्रमशः मल्लिकार्जुन भक्ति और मल्लिकार्जुन की सीतामयी का गान किया था। परन्तु मल्लिकार्जुन का नाम पञ्च नायक-नायिकाओं का प्रथम वर्गीकरण मही था जिसमें उल्लेख के लिए राधा माधव की सीतामयी का उल्लेख मही था। इस ग्रन्थ में उल्लेखित या मधुर रस की जिस प्रशंसा भक्तिरस भी कहता है (मधुराख्या भक्तिरस १—३) मनुष्य का परम प्राप्तव्य बताया गया है। मधुर रस का आलम्बन श्रीरूप ही है सत्य है दूसरा नहीं। गौडीय धर्षणा का मत सा पाँच रस होते हैं—मानस हास्य या प्रीति सत्य या प्रेम वात्सल्य और माधुर्य। इसी माधुर्य की उल्लेखित रस कहते हैं। इस ग्रन्थकार भक्तिरस गूढ या भक्तिरस का राजा बताता है। इसके बाद बाल म नायिकाओं और नायकों का वर्गीकरण का अनुसार पञ्च सिखन की चाल सी चल पड़ी। परन्तु इस प्रकार की रसव्याख्या से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदाय का मुख्य विषय कविता नहीं भक्ति था। हिन्दी में जो रस ग्रन्थ लिखे गए उनमें भक्ति और कवित्व समाप्त भाव से गुप्त हुए थे। कहा-कहा तो कवित्व ही प्रधान है भक्ति गौण। हम यहाँ मूरदास, तुलसीदास जैसे कवियों की बात नहीं कर रहे हैं केवल मतिराम और देव जैसे रस ग्रन्थकारों की बात कर रहे हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन दिना उल्लेखित नीलमणि की रचना हुई उसके कुछ पहले ही हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध थे। उल्लेखित नीलमणि ने भक्ति रस की जो सर्वांगपूर्ण व्याख्या की है वह सर्वांगीण नहीं तो अधिकांश में नवीन है। ऐसा एकाएक नहीं हो सकता। इसके पूर्व इसकी पर्याप्त चर्चा रही होगी। इसी तरह हिन्दी के जिस ग्रन्थ की हम चर्चा करने जा रहे हैं वह पहला प्रयत्न नहीं जान पड़ता। साधारण धारणा यह है कि कान्हादास ही हिन्दी के प्रथम रसाचार्य हैं। परन्तु बात असत्य में यह नहीं है। कृपाराम नामक एक ग्रन्थ कवि ने सन १५४१ ई० में ही रस पर सुन्दर ग्रन्थ लिखा था।^१ इस ग्रन्थ का नाम हिततरणिणी है। 'रसमे रसो का विषय बहुत ही विस्तारपूर्वक और मनोहर उदाहरणों द्वारा कहा गया है। इस नवि की भाषा सुन्दर ब्रजभाषा है। इन्होंने लिखा है कि ग्रन्थ कवि बड़े छंदा में

१ यरनत कवि सिंगार रस छन्द बड़े विस्तारि,

मे वरयो दोहानि विच याते सुधर विचारि।

शृंगार रस का वर्णन कर्त हैं परंतु मैंने दादा म इसलिये लिखा कि उसमें थोड़े ही अंशों में बहुत अर्थ आ जाता है।^१ इस कथन से प्रकट होता है कि उस समय बहुत से कवि थे परंतु दुर्भाग्यवश उनके अर्थ अर्थ नहीं मिलते।^२ श्री अर्थ में पहले पहले राधाकृष्ण की प्रेमलीला को उदाहरण रूप में लिखित पाया जाता है—

आजु सकारे हों गई नदलाल हिल ताल ।

कुमुद कुमुदिनी के भद्र निरखे और हाल ॥

यहाँ यह कहने की बाड़ आवश्यकता नहीं कि हिंदी में राधा माधव की प्रेम गाथाओं का प्रचार भक्त कवियों के कण्ठ से इसके बहुत पहले हो चुका था। इस श्रेणी के भक्ति के आवेश में ही कविता, (गान कहना अधिक ठीक होगा) लिखा करते थे परंतु कनाराम की श्रेणी के आचार्य कविता करने बैठने थे और उस पर भक्ति का पर्दा डाल देते थे। यह बात ध्यान देने की है कि इस श्रेणी के आचार्यों का वर्गीकरण गौडीय वैष्णवों की श्रेणी का नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रभाव गौडीय वैष्णवों का है। फिर यह बात आइ कहा से। एक और बात ध्यान देने की है वह यह कि पद्महवी गतांगी के पहले यह धारा हिन्दी साहित्य में एकदम अपरिचित है। रसाचार्यों की बात छाड़ भी दी जाए तो भी भक्त कवियों के गान भी पद्महवी गतांगी के पहले दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक आरता इन कवियों और रसाचार्यों पर गौडीय प्रभाव का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता दूसरी ओर इस प्रकार के प्रेम-गानों के समीप गुरान रचयिता—जयदेव विद्यापति उमापति, चण्डीदास हिन्दी के किसी भी वैष्णव कवि से पूर्ववर्ती और पूर्वी प्रदेश के ठहरते हैं। राधाकृष्ण की शृंगार लीला का अगर कोई सीधा सम्प्रदाय कहीं से मिलता है तो इही पूर्ववर्ती भक्ता म। महाप्रभु चतुर्दश जयदेव विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियों के काव्य रसिक थे वंदावन आये थे और उहाँ ही इसे नया रूप दिया था।

१ मिश्रबधु विनोद पृ० २७६ (तृतीय संस्करण लखनऊ १९८६ वि०)

२ कृपाराम के अतिरिक्त गोप [१६१५] करनेस और मोहनलाल मिश्र ने रीति अर्थ लिखे थे। ये तीनों ही केन्ददास के पूर्ववर्ती थे। (दे० रामचन्द्र गुप्तजी की हिन्दी गदसागर की भूमिका पृ० १२१-२२) परंतु हम नहीं जानते कि इन्होंने अपने ग्रंथों में राधा माधव की लीलाओं को उद्धृत किया है या नहीं।

उत्तर भवन यही गिम्प आजीवन के लिए रह गए थे और उन सम्प्रदाय के भक्तिन ही भवन पर्यवर्ती हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि भी हुए। इस प्रकार पूर्वी प्रदेशों से इस धारा का रास्ता सम्प्रदाय भी त्रिगार्ह देता है। इन दो परस्पर विरोधी धारा का समाधान क्या है ?

प्रायश्चित्त पण्डिता का रास्ता सीधा है। वैष्णव भवन भी भगवान् का पतितपावन कहते हैं, कथना मिथु कहते हैं, और ईसाई भवन भी ऐसा ही कहते हैं। इसलिए भक्ति ईसायत की दन है। कुछ कहते हैं यह मद्रास में बस हुए नैस्टोरियन ईसाइया की दन है¹, कुछ कहते हैं यह ब्रह्मविद्या या दमिकुल दूद से आई है और कुछ कहते हैं यह सूफिया² की मध्यस्थता में आई है। एस लोग की दृष्टि में सत्तार में जो कुछ अच्छा है वह योरप और ईसाई धर्म में ही है, इसलिए हिन्दुओं ने भक्ति को भी निश्चय ही वही से उधार लिया होगा। खान जाओ सुमसुम और तो वह दरवाजा खुल गया।³

इस स्थान पर यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी-साहित्य में भक्ति धारा का बहान का श्रेय निश्चय ही दो प्रसिद्ध आचार्यों का प्राप्त है। राम भक्ति की धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द हैं। इस धारा की दो भागा में विभक्त पाया जाता है। प्रथम में वे सत हैं जो शास्त्रों और रूढ़ियों के कामत नहीं हैं। इन्हें निगुणवादी भक्त भी कह सकते हैं। बबीर दादू, नानक, रसाम आदि भवन इसी श्रेणी के हैं। दूसरी श्रेणी में तुलसीदास जैसे महात्मा हैं जो भक्तिवात् और शास्त्रों के सामंजस्य के अनुसार साधन मार्ग का निर्देश करते हैं। कृष्ण भक्ति की धारा के प्रधान प्रवर्तक महाप्रभु बल्लभाचार्य हैं। परन्तु केवल इतना कष्ट से हम गंतुष्ट नहीं हो सकते। कोई भी मत वाद जब किसी नवीन भूमि में प्रवेश करता है तो वहाँ की रीति नीति आचार विचार में मिनकर एक नया रूप धारण करता है। महाराष्ट्र की भक्ति दूसरी बीज है युक्त प्रांत की दूसरी और बंगाल की कुछ और। इनके मूल सिद्धान्त एक ही हो सकते हैं परन्तु इनके आकार प्रकार सबथा भिन्न हैं। रामानन्द प्रवर्तित राम-धारा बबीर में एक रूप धारण करती है और तुलसीदास में दूसरा। जब व्यक्ति विशेष के कारण साधना का रूप बदल सकता है तो देश विशेष के साथ क्या नहीं बदलगा ? जो लोग कुछ दक्षिणाय आचार्यों के

1 Modern Hinduism and its debt to the Nestorians

(J R A S 1907)

2 Krishna Christianity and Gujar (J R A S 1908)

भक्ति और धार्मिक मता का अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदास वे रहस्या का उद्घाटन करते हैं वे लोकमत के साथ अविचार करते हैं। जिस भक्ति-साधना नंददेव मतिराम और पद्माकर को पैदा किया वह किसी आचार्य की ही साधना नहीं थी। आचार्य विनोद की दीक्षा तो उस पर केवल रंग चढ़ा गई मूल काल कुछ और ही था।

हमारा विश्वास है कि ग्यारहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जनसाधारण में एक साधना विकसित होती जा रही थी। पंद्रहवीं शताब्दी में वह एकाएक फूट उठी। प्रियसन साहब का यह कहना बिलकुल ठीक है कि अचानक विजली के समान यह बात भारतीय अंतरीप में इस छार से उम छोर तक चमक गई। परन्तु इसके लिए चार सौ वर्ष से भेष पुर्जोभूत हो रहे थे। और बवल विजली ही नहीं चमकी पंद्रहवीं शताब्दी में भक्ति की जा वर्षा आरम्भ हुई वह चार सौ वर्ष तक बरसती ही रही—जरा भी रूकी नहीं।

इन चार शताब्दियों में जन-साधारण क्या सोच रहा था यह जानने के पहले भक्ति आन्दोलन की कुछ मुख्य बातों का ध्यान में रखना होगा। ये बातें इस प्रकार हैं—

- (१) प्रेम ही परम पुण्याय है, माक्ष नहीं—प्रेमा पुमर्थो महान् ।
- (२) भगवान के प्रति प्रेम कौलीय से बड़ी चीज है।
- (३) भक्त भगवान से भी बड़ा है।
- (४) भक्ति के बिना शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य व्यर्थ है।
- (५) नाम रूप से भी बढ़कर है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह मत ब्राह्मणधर्म का विरोधी तो नहीं था परन्तु उसका सम्पूर्ण अनुगामी भी नहीं था। महायान मत से इसका अंतर यही था कि वह ब्राह्मणधर्म का पूरा विरोधी था और यह उसका अंग होकर भी स्वाधीन था।

इन चार शताब्दियों में भारतीय धर्म मत की क्या अवस्था थी यह बात हिन्दू धर्म के संस्कृत ग्रन्थों से बहुत कम समझ पड़ती है। असल में संस्कृत ग्रन्थों की दृष्टि से यह युग टीका युग कहा जा सकता है। कोई अच्छा ग्रन्थ अगर इस जमाने में लिखा गया तो वह टीकाएँ ही थीं। धर्मशास्त्रों में व्यवस्था मूलक अनेक ग्रन्थ लिखे गए जो निश्चय ही टीका श्रेणी में आते हैं। इन टीकाओं और निवेदनों से उस युग की भयानक सतकता का अनुमान सहज ही

किया जा सकता है। जान पड़ता है शास्त्रीय आदेशों के पालन में ज्यादा-ज्यादा निधिलता आती जा रही थी तथा ब्राह्मण आचार्य अधिक सतक भाव ग्रहण करते जा रहे थे। इन अनुपस्थितिमूलक (Negative) प्रमाणों केवल पर यही अनुमान होता है कि शास्त्रों की व्यवस्थाओं से लोकमत बेपरवाह होता जा रहा था। उस युग के ग्राम गीत और प्रवाद यन्त्रि उपलब्ध होते तो हम यह आसानी से जान सकते कि जनसाधारण का मत उस समय क्या था। परन्तु अभी तक, दुर्भाग्यवश इस दिशा में कुछ सन्तोषजनक कार्य नहीं हुआ है।

जो हो, हिन्दी साहित्य के शतাব्दिक स्थिति में हम एक महान् काल के दर्शन होने हैं जो एक विशेष धर्म मत के अत्यन्त प्रतिष्ठाता है। यह हैं गोरखनाथ। आप नाथ सम्प्रदाय के आचार्य थे। यह सम्प्रदाय महायान बौद्ध धर्म का उत्तराधिकारी था। तन्त्र और योग की क्रियाएँ इस मत के प्रधान जग हैं। कबीरदास पर गोरखनाथ की निगुण साधना का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य के निगुण अंग पर इस सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव है। परन्तु हम आज उस दिशा की ओर अग्रसर होना नहीं चाहते। गोरखनाथ का उल्लेख हमने इसलिए किया कि उनका हिन्दी के गणक काल में दिखाई देना एक विशेष अर्थ रखता है। नाथ सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध महायान बौद्ध धर्म से है। यह सम्प्रदाय बंगाल से लेकर मुक्त प्रांत तक बहुत प्रभावशाली हो गया था। हिन्दी साहित्य में गोरखनाथ एक ओर उस युग की हिन्दी भारी जनता का सम्बन्ध महायान बौद्ध से जोड़ते हैं और दूसरी ओर बंगाल में भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यहाँ हम उस युग के समाज का सीधा सम्बन्ध दश और काल से स्थापित होना देखते हैं। सब ध्यान देना उत्तरकालीन वर्णव्यवस्था पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है। जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता से अधिक रहता है और जिस प्रकार माता के रक्त मांस का अधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिता के नाम से ही प्रसिद्ध होता है वैसे ही हिन्दी वर्णव्यवस्था का सम्बन्ध महायान से अधिक होना हुआ भी वह वर्णव्यवस्था के नाम से पुकारा गया।

महायान बौद्ध धर्म की गाम्भीर्यपूर्ण आचार्यों की दृष्टि में किताब भी पूजनीय नहीं थी, उस धर्म के अनुयायी अधिकांश जनसाधारण में मकान के देवियों की पूजा बल पड़ी थी। उनके देव-देवियाँ—प्रणामरहिता, अवलोकितेश्वर, भद्रकाली—की मूर्तियाँ बहुत कुछ वास्तव और सम्मोह की मूर्तियाँ के

ममान है^१। प्रसिद्ध डाक्टर कर्न ने बताया है कि वैष्णव भक्ति-वाद इन महा-याना की भक्ति का ही विकसित रूप है।^२ यहाँ तक कि नाम सक्तीन भी जिसे ग्रियमन माह्व^३ ईसाई धर्म का प्रभाव बताते हैं महायान धर्मवाला की चीज है। आचार्य शितिमोहन सन ने चीन और भारत के सक्तीनता का साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महायान-मन ही सक्तीनप्रथा का मूल उत्स है। बंगाल के इतिहास से यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्ध धर्म का ह्रास हात ही महायान मत के नाना पथ वैष्णवा में शामिल हुए। इस प्रकार आडल-वाडल आदि अनक सहजिया पथ जिनकी माधना प्रेम मूलक थी और जो परकीया प्रेम को सहज माधना का प्रधान उपाय समझते थे सालहवी गताब्दी में नित्यानन्द के वैष्णव भंडे के नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानन्द की महाप्रभु चतय ने अपने सम्प्रदाय में निमंत्रित किया और यही से गौडोय वैष्णव धर्म ने अभिनव रूप धारण किया^४। यह धर्म मन समस्त बंगाल उड़ीसा में तथा अगत आमाम में पहुँचा। उड़ीसा के धर्माचार्यों में चतय और नागाजुन दोनों के मता के समन्वय से एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।

नित्यानन्द के साथ जो गक्ति चतय सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई वह नयी नहीं थी। उसके पीछे भी तीन चार सौ वर्ष का इतिहास था। मोभाग्यवश बंगाल और उड़ीसा में इस प्रकार की कुछ पुस्तकें और लोक गीत उपलब्ध हुए हैं जिनमें उस अधतिमिरावत युग की धार्मिक साधना पर प्रकाश पड़ता है। श्री दिनेशचन्द्र सेन महाशय की धारणा है कि बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और उड़ीसा में एक अत्यंत गोचनीय नतिक दुर्गति का आविर्भाव हुआ था। उस युग के ताम्रपासनों पर हर-पावती की वदना में उनका हाव भाव तथा परस्पर आलिङ्गन आदि का कवि गहिर्न वर्णन पाया जाता है पुरी और कोणाक के मन्दिरों पर अश्लील चित्र अंकित हैं। बंगीय साहित्य परिषद् में उस युग की बनी हर पावती की एक वीमत्स प्रस्तर मूर्ति रखी है। इन प्रमाणा के बल पर

1 D C Sen Bengali Language and Literature P 401 ff

2 Kern Manual of Buddhism P 124

3 Grierson Modern Hinduism and Nestorians (J R A S, 1907)

4 D C Sen Bengali Language and Literature P 403

मह गमभावा कविता गयी है कि उस युग की रसि निग धार भी' । यन्त्र भवता भ जयन्त्र । गयप्रथम गरी क भी 'र भ उम रसि-गति विभाग प्रदा का आधार गायन प्रग-गान निग । म गाय विपुल प्रम क गायन म ही निग लय भ पर-तु कवि प्रदा युग की सामानित रसि म यथा था । परम्परा ग ता जयन्त्र परकाया भाव क साधक ही गमभे जात है परन्तु उत्तर गीतगोविन्द म दूसरा कोई प्रमाण गयी है । हम साग धमकर दगाव वि व्रजभावा क कविता पर जयन्त्र का मुख प्रभाव था ।

एक दूसरा गया प्रवस प्रमाण सावित्रा हुआ है जिसमें वृष्णव कविता की प्रेम गायना का रहस्य प्राप्त होता है । रणपुर सिनाजपुर सावि उत्तर वग क जिना म, जो हिमाचल की तलहटी म बग हुआ है कुछ सारा-श-तरहवा जनानी क प्रालित गीत पाय गम है । म गात दो तर- क हान है—मगन यमाला घो-र दुन-धमाली । मगल धमाली गात-ता धमाली हान है कि य गावा के बाहर हा गाय जात है । इस वृष्ण यमाला भी कह सकते हैं । यह वृष्ण धमाला-य किमी समय बग दग क जनताधारण की राधा-वृष्ण की प्रम-कया मुनन की तूपा मिता दत य । इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन राजवंश जाति और यागी साज तर बगाल क नाना स्थाना म इसकी यन्त्रवक रस्य करत साय है ।^१ युनन धमाली का मशोधन करने क लिए सुप्रसिद्ध वृष्णव कवि चण्डी दास ने 'वृष्ण-वीरन नामक य य लिखा था । यह सगाधित मस्करण भी कम मरलीस नहा है इसी स दीन-वायू अनुमान करना चाहत है कि वह वृष्ण धमाली कितनी गहिंर रही होगी । इस पुस्तक क अनुसंधान से हम यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि किस परिस्थिति म वृष्णव प्रेम को श्रृंगारिक रूप धारण करना पडा था ।

गौरतनाथ क प्रसंग म हम उस युग क पूर्वोक्त मवत म उत्तर भारत के याग का उत्पत्ति कर चुके हैं । यह बात और भी मनोरंजक है कि इन पूर्वोक्त वृष्णव के प्रम गानों का प्रभाव ब्रजभावा के साग-नात म ही पडा । केवल नाभावास या गु-नामक ने जयदेव का नाम लिया हो तो बात नहीं सुरनाम के भजनों म जयदेव क पदा का अनुवाद भी है^२ । पन्ति रामचन्द्र

१ जीनेशचन्द्र सेन ब्रजभावा और साहित्य, पृ० १६५ १६६

२ वही पृ० १६६

३ जयदेव और सुन्दरदास के इन पदा की तुलना कीजिये

मेघमंदुरमवर ब्रजभुव श्यामास्नमानद्रुम

गुल न ठोक ही कहा है कि सूर सागर किसी चली आती हुई गीत का पंखरा का—चाह वह मौखिक ही रही हो—पूण विकास भा प्रतीत हाता है। 'अथात सूरदास के बहुत पहले ही (और इमीलिए कलभाचार्य के भी बहुत पहले) वष्णव प्रेम धारा ने इस प्रेम्ण में अपनी जड़ जमा ली थी। महा यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बारहवीं से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक जिस प्रकार का गौड़ तन्त्रवाद बंगाल और उड़ीसा के पूर्वी प्रांतों में प्रबल रहा वसा इस प्रेम्ण में नहीं था। मध्ययुग में बंगाल का प्रांत तन्त्र का अखाड़ा ममका जाना था। पर तु वष्णव प्रेम वाद में कुछ ऐसा रस था जो अवष्णवा को भी आकृष्ट करता रहा। इसके सबसे ज्वलंत उदाहरण हैं विद्यापति। आप स्वयं गवध पर तु प्रेम साधना की और इतने आकृष्ट हुए कि शायद ही कोई वष्णव कवि बंगाल में इतने दिनों तक इतना समादत रहा हो।

बंगाल के बाहर का प्रांत इस प्रेम से प्रभावित तो हुआ था पर वह प्रभाव

नक्त नीरुरय त्वमेव तदिदं रात्रे ग्रहं प्रापय ।

इत्यनन्द निर्यतश्चालितयो प्रत्यघ्न कुञ्जद्रुम

राधा माधवयोजयति यमुना कले रह केतय ।

—जयदेव

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी ।

पीन ऊरुभोर चपला चमकि चहूँ और

सुवन ता वित नद डरत मारी ॥

कह्यो वपमानु की कुँवरि सो बोलि क

राधिका का ह घर लिये जारी ॥

दोऊ घर जाहु सग नभ भयो

श्याम रंग कुँवर गह्यो वपमान धारी ।

गम वन और नवल नदीकिनोर

नवल राधा नय कुँज भारी ॥

अग मूलकित भये मदन तिन तन

जये सूर प्रभु न्याम न्यामा धितारी ॥

सम्पित सूरसागर पृ० ६१

केवल आर्चव्या का प्रभाव था।^१ वास्तव में बंगाल की भूमि में परकीया भाव को ऊँचा रूप देने का उपकरण पहन से ही वर्तमान था। ब्रजभाषा प्राप्ति में यह बाधा नहीं थी। अर्थात् राधा और कृष्ण सम्बन्धी प्रेम के गान तथा इस प्रवेश में चल पड़े परन्तु राधा कृष्ण की रानी ही समझी गयी। सूरदास ने राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूम धाम से कराया है। महाप्रभु कल्लभा चाय न इस आन्दोलन को और जोर दे दिया।

अब हम अलंकार सम्प्रदाय की बातें पत्र विचार करेंगे। बंगाल में चतुर्थ युग के बाद ही वृष्णव अलंकारिका का विकास हुआ है। हम अब यत्र लिख चुके हैं कि इन अलंकारिका का कोई भी प्रभाव हिन्दी अलंकारिका पर नहीं पड़ा। सच पूछा जाय तो रस ग्रन्थों की रचना हिन्दी में पहले ही होन लगी थी। ब्रजभाषा में गोपिया और कृष्ण की नाना लीलाओं का वर्णन पहले से ही होना आ रहा था। हिन्दी रसाचार्यों ने उन्नाहरण के लिए इन लीलाओं को ठीक उसी तरह उद्धृत किया जिस प्रकार मम्मट आदि ने कालिदास के निबन्धों की परिणय सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किया था। एक नवीनता यह आ गई कि मम्मट आदि अन्य कवियों की रचना उद्धृत करते थे। वे अपनी ही रचना उद्धृत करने लगे। विश्वनाथ कुछ दूर तक इस प्रथा को लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। बाद में वर्गीकरण करके कविता करना एक सरल उपाय समझा गया और हिन्दी में रस ग्रन्थों की बातें आ गईं। हमारा मतबल है कि पंडितराज जगन्नाथ रस बात में ब्रजभाषावाला से प्रभावित हुए थे।

१ यह सादेह करने की बात नहीं है कि मध्ययुग में यह बात फल कर कसे इतनी दूर तक आ सकी थी। जायसो के पदमावत की रचना के सौ वर्ष के भीतर ही उसका बंगाली अनुवाद हो गया था। यह अनुवाद आराकान के एक मुसलमान बादशाह ने करवाया था। दादू के जीवन काल में ही उनका प्रभाव बंगाल में फैल गया था। श्री क्षितिमोहन सेन ने बंगाल के बाउलों के गान सुन कर ही पहले पहल समझा कि दादू जन्म के मुसलमान थे। और उनका नाम दाउद था। चतुर्थ देव के अनन्तर ही गोडीय वृष्णव धर्म राजस्थान तक फैल गया। गीराबाई के जीवन-काल में ही उनका गान पूर्वांचल प्रांता में गाय जान लगे थे। बंगाल के गोपीचन्द का गान सौ वर्ष के भीतर ही सुदूर पंजाब तक गाय जाने लगा था और अब भी गाया जाता है। इन बातों के लिए श्री क्षितिमोहन सेन का 'मध्ययुग में राजस्थान और बंगाल का साहित्यिक सम्बन्ध' (गो० टी० ओम्का प्रसिद्ध ग्रन्थ) देखिए।

हिन्दी साहित्य पर वैष्णव प्रभाव की चर्चा करते समय दो अत्यन्त मनोरंजक विषयों का छोड़ा नहीं जाता। एक तो पद्म सवैया और कवित्त (इनमें कवित्त सबसे अधिक जरूरी है) और दूसरे इन छन्दों के इतिहास के साथ भागवत तथा रामचरितमानस और भागवत तथा मूरसागर की तुलना आवश्यक है। पर ये दोनों बातें संक्षेप में नहीं लिखी जा सकती। इसलिए यहाँ हम इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहते। इतना ही कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि हिन्दी साहित्य में वैष्णव धर्म का समस्त इतिहास इन्हीं कई छन्दों के इतिहास में आ जाता है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि वैष्णव धर्म गान्धर्व धर्म की अपेक्षा लोकधर्म अधिक है। हिन्दी साहित्य में लोक गीतों में इसका प्रवेश बल्लभाचार्य के बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतों का विकसित और सुसंस्कृत रूप मूरसागर के अतन्त विद्यमान है। अन्य सभी गान्धर्व या लोक धर्मों—बौद्ध, जैन, यहाँ तक कि उपनिषदों के धर्म की भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल और उड़ीसा के प्रांत हैं। बल्लभाचार्य या चतुर्थ देव प्रभृति ने इस लोक धर्म को शास्त्र सम्मत रूप दिया। ज्याही उसने एक बार शास्त्र का सहारा पाया त्योंही विद्युत की भाँति इस छोर से उस छोर तक फैल गया क्या कि अमल में उसके लिए क्षेत्र बहुत पहले से ही तैयार था। जब शास्त्र-सम्मत होकर इसने अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो आलंकारिका और रमाचार्यों ने भी उसका अपने शास्त्र का आलंबन बनाया। असल में यह कहीं बाहर से आयी हुई चीज नहीं है। भारतीय साधना की जीवनी शक्ति के रूप में यह धारा नाना युग में नाना रूप में प्रकट हुई थी। मध्ययुग के वैष्णव धर्म ने इस जो रूप दिया वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था। इस भक्ति-साहित्य में ससार के साहित्य में एक नई वस्तु दान की और वह यह कि आध्यात्मिक, धार्मिक और कला सम्बन्धी सभी साधनाओं का लक्ष्य विचित्र रूप में एक है, जो ज्ञान का विषय है वही शक्ति का और वही रस का।

मध्य युगीन भारतीय संस्कृति और हिन्दी

पिछले एक हजार वर्षों की भारतीय धर्म-साधना का इतिहास अब भी अनवधान और अनालोचित ही कहा जाएगा। हमारे ऐतिहासिक पण्डित न उस युग के राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे का थोड़ा-बहुत अध्ययन अवश्य उपस्थित किया है पर विमल बौद्ध और जन मता की क्रम परिणति स्मृत और पौराणिक मता का सव्यासी रूप शाक्त पागुपत और भागवत धर्म साधनाओं की परिणति का अध्ययन अब भी नहीं हुआ है। अभी भी निरजन दत्त विमल एवं सम्प्रदाय केवल कुतूहल का विषय बना हुआ है जबसे महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद आस्त्री महाराय ने बंगाल में निरजन ठाकुर की पूजा को जीवित बौद्ध धर्म का भगवदशेष धारित किया तब से बंगाल में तो इस विषय की कथंचित थोड़ी बहुत चर्चा हुई है पर अब यह चर्चा भी नहीं सुनायी देती। कबीर पंथ का अध्ययन करते समय प्रस्तुत लेखक को इस निरञ्जन दत्त सम्प्रदाय का पता लगा था। पश्चिमी बंगाल से लेकर रीवा तक के विस्तृत भूखण्ड में यह धर्म प्रचलित था—बाद में चलकर कबीर पंथ में अन्तर्भुक्त हो गया था। पर केवल इतना ही नहीं—राजपूताना में उसने एक रूप धारण किया है उत्तरी प्रदेश में दूसरा और पूर्वी प्रदेशों में एकदम भिन्न तीसरा। इस समूचे धर्म मत के अध्ययन का एकमात्र उत्तम पुराना हिन्दी साहित्य है। हम लोग ने इस उत्तम वास्तविक मूल्य नहीं समझा है। अभी भी हम हिन्दी साहित्य के केवल साहित्यिक पहलू का अध्ययन करके चुप हो जाते हैं। अब भी सन्तो और भक्तों की उक्ति के अनुसार उनके उत्कर्ष की श्रणी का विचार करने में हम समय नष्ट कर रहे हैं। साहित्यिक अध्ययन बहुत बड़ी चीज है। पर हिन्दी में उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक नहीं है। वह हमारे हजार वर्ष के सांस्कृतिक

सामाजिक और धार्मिक साधना के अध्ययन का सबसे बहुमूल्य और सबसे विशाल साधन है। समूचे मध्य युग के अध्ययन के लिए सस्कृत की पोथियाँ की अपेक्षा इस भाषा का माहित्य कहीं अधिक उपादेय और विश्वमयी है। यह लोक जीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है। इस छोटे से लक्ष्य में हम एकाध उदाहरण देकर यह दिग्गज का प्रयत्न करेंगे कि सस्कृति के विद्यार्थी के लिए इस भाषा की कितनी आवश्यकता है।

भारतीय सस्कृति के साथ हिंदी भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह याद रखना चाहिए कि भारतवर्ष हिंदी भाषी क्षेत्र से बहुत बड़ा है। मूलची भारतीय सस्कृति का निर्माण में ऐसे बहुत से उपान्त हैं जो हिंदी भाषी प्रदेशों के बाहर से आए हैं। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिंदी भारतवर्ष की सर्वप्रधान भाषा है वह उसके ममस्थल में बाली जाती है और इस विनाश देण की एक बहुत बड़ी सख्या इसी भाषा का किसी न किसी रूप का व्यवहार करती है। इसीलिए भारतीय सस्कृति के पिछले हजार वर्षों के रूप को समझने के लिए हिंदी एकमात्र नहीं तो सर्वप्रधान साधन जरूर है। हिंदी भाषा की उत्पत्ति के साथ ही साथ भारतीय सस्कृति एक विशेष णिगाम में मुड चुकी थी। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले के अपभ्रंश भाषा के जो पत्र और दाह मिल हैं वे इस झुकाव की बहुत स्पष्टता के साथ प्रमाणित करते हैं। भारतीय सस्कृति की जो छाप प्रारम्भ की हिंदी भाषा पर पड़ी है वह इतनी स्पष्ट है कि केवल भाषा के अध्ययन से भी हम सस्कृति के विभिन्न रूपों का अनुमान लगा सकते हैं। ऐसा बहुत बार हुआ है कि एक ही शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, एक ही मुहावरा विगेष अवस्था की सूचना देता है और कभी-कभी तो धार्मिक आध्यात्मिक और सामाजिक पादशों के परिवर्तन के साथ शब्द विलुप्त विपरीत अर्थ में व्यवहृत होता रहा है।

अपनी बात समझाने के लिए मैं एक मनोरञ्जक शब्द के भिन्न भिन्न काल के प्रयोगों का उदाहरण दूँ। यह शब्द है खसम। कबीरदास के पद्यों से मामूली परिचय रखने वाला आदमी भी खसम को अच्छी तरह पहचानता है। साधारणतः सम शब्द सरब की माना जाता है और इसका अर्थ किया जाता है पति। उदाहरणार्थ—सम के साथ मोर मूनी हुए ईश्वर-बधुमा की जा करारी खबर कबारनाम न ली है—वह उपमाय ही नहीं है—भक्तमोर न बनानी भी है। अब पति के साथ पत्निवाँ गयन करें तो किसी भी दृष्टि से इस नाराज होने की बात नहीं है। फिर कबीर जसा मन्तमौला फक्कट क्या इस बात में चिन्तित गया—यह एक विचारने योग्य बात है। मैं उसी बात का सम

माने की योगिता करता है ।

'य—मम शब्द अगमन म समस्त और अगमन के साम्य म व्यवहृत हुआ है । इसका अर्थ है आत्मा के समान या गूँथ के समान । बौद्ध लोग आत्मा को नित्य पण्य नहीं मानते थे । वे नाना प्रकार की तपस्या ही म लिए करते थे कि आत्मा को निर्वाण प्राप्त हो अर्थात् यन् नीच की ली की तरह बुझ जाय और इस प्रकार इस भवजाल से छुटकारा मिले । बौद्धों के महज यान और वज्रयान एक प्रकार के योगिक और तान्त्रिक सम्प्रदाय थे । वे नाना प्रकार की योगिक क्रियाओं से समाधिस्थ होने को य—मम भाव कहते थे । वहाँ न भाव का ज्ञान होता है और न अभ्यास का बलिक गूँथ के सामान्य नरात्म्य भाव का ज्ञान होता है । यही बौद्धों का खसम है । मरौजवज्र और गवरपा नामक मह्यानी सिद्धा के कथन म कई बार यह गूँथ आया है । अद्वयवज्र ने अपनी टीका म इस गूँथ की व्याख्या भी की है । परंतु नाथपंथी योगी लोग आत्मा की नित्य सत्ता म विश्वास रखते थे । उन्होंने सहजयोनियों के बहुत से शब्द ज्ञा के लिये से लिए हैं—परंतु अर्थ सबत्र बदल दिया है । खसम या गगनोपम भाव इनमें भी प्रचलित है—परंतु वहाँ नरात्म्य भाव उसका अर्थ नहीं बवल्य भाव अर्थ है । अर्थात् उनके मत से समाधि म आत्मा नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं होता बलिक केवल आत्मा ही आत्मा है यही ज्ञान होता है ।

न गूँथ रूप विशूय रूपम

न शुद्ध रूप, न विशुद्ध रूपम ।

रूप विरूप न भवामि किंचित

स्वरूप रूप परमाथ तत्त्वम ।

कहने का मतलब यह कि एक ही गूँथ को दोनों ने व्यवहार किया है पर एकदम अलग अलग अर्थ में । एक का खसम भाव समाधि की वह अवस्था है जहाँ आत्मा है ही नहीं ऐसा भाव होता है और दूसरे का खसम या गगनोपम भाव वह अवस्था है जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा दीवता है । अवधूत गीता म इस भाव का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है । कबीरदास इन नाथपंथी यागियों से प्रभावित थे । उन्होंने स्वयं उप समाधि का अनुभव किया था जिसे योगी लोग अत्यंत ऊँची अवस्था मानते थे जहाँ—

गगन का गुफा त तह सब का चादना

उदय और अस्त का नाम नाही

दिवस ओ रततह नैक नहि पाइये

प्रेम परकास के सिंधु भाही ।
 रादा घानद दुखदद व्याप नही
 पूरनातद भरपूर बेला,
 मम और भ्राति तहें नेक नहि पाइये
 कह कबीर रस एक परवा ।

परन्तु वे कार्यों की नाना भाँति की साधना से मिले हुए भगवान के साक्षात्कार का महत्त्व दत्त थे। वे इसे कच्चा याग' कहते थे। क्योंकि समाधि में तो निश्चित ही परमानन्द घण्टा ज्योति का दान होता है पर समाधि टूटने पर तो फिर मनुष्य दुःखद्वन्द्व की दुनिया में आ ही जाता है न। फिर इस योग से क्या लाभ? धागा टूटिगा गगन विनमिगा कहाँ गया जोग तुम्हारा?' कबीरदास का कहना था कि भक्ति हानी चाहिए, भगवान स्वयं मिलेंगे। भगवान नहीं तो समाधि एक विघ्ननाशक मात्र है। उसीलिए उन्होंने स्वयं भाव' को बहुत ऊँचा भाव नहीं समझा। उन दिनों इस्लाम का आगमन हो चुका था और भारतीय मन में नया उपादान बड़ी तेजी से प्रवेश कर रहा था। खसम शब्द पतिवाचक होकर उसी माध्यम से कबीर को मिला था। कबीरदास ने दोनों खोला से आय हुए गंगा को मिला दिया। खसम का अर्थ निवृष्ट पति और परम प्रेममय उत्कृष्ट भगवान पति हुए। यहाँ आकर खसम एक तीमर भाव का वाचक हो गया। अब यह बात आसानी से समझ में आ जाएगी कि कबीर का मन जब माधव को छोड़कर खसम से प्रेम करता है तब क्यों वे उस प्रेम की रस्ती से बाधकर हरिरस की ओर लौटना चाहते हैं

धीरो मेरे मनुष्या ताहि धरि टांगी
 तूने किया मोरे खसम से सांगी
 प्रेम की जेवरिया तेरे गले बाधौ

जहाँ ले जाऊँ जहाँ मेरे साथी । इत्यादि

इस प्रकार यह एक खसम बाद तीन प्रकार के आध्यात्मिक साधना का परिचायक है। परन्तु हम प्रकार के मनोरंजक रादा में यह अकेला नहीं है। हम गंगा का विनाश ठाठ है—शून्य है, सहज है, निरजन है, धरनी है नाद है बिट्ट है यहाँ तक कि गम रहीम और केवद-करीम भी हैं। मुझे अफ सोम है कि मैं समझाभाव के कारण उन गानों के मनोरंजक इतिहास की ओर अपने श्रोताओं को नहीं ले जा सकता।

कबीरदास ने अपने पूर्ववर्ती यागिया और सह्यागिया की अपेक्षा जो बात विशेष थी वह है भक्ति। यह भक्ति ही मध्ययुग की भारतीय मस्तिष्क की

विशेषता है। भक्ति ने ही नायपथिया निरजनपथियो आदि के निगुण मत स मिलकर उस महान साहित्य को पदा किया था जिसे निगुण सन साहित्य कहते हैं भक्ति ने ही सूफी साधना को वह भारतीय रूप दिया जिसे प्रेममार्गी साधना कहते हैं और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे भक्त जिस साधना के अग्रणी हैं भक्ति ने ही रामावतार और कृष्णावतार का आश्रय करके उस बेजोड़ प्रेम साहित्य का निमाण किया जिसकी तुलना वह स्वयं आप ही है। तुलसीदास मूरदास नन्ददास हित हरिवंश आदि महात्माओं की अमर वाणी आज के भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। परंतु भक्ति ने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक साधनाओं को ही रूप नहीं दिया उसने लौकिक रस-परक रचनाओं को भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया। नितान्त लौकिक रस की कविताओं में भी गोपी और गोपाल इस प्रकार आ जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होना है। भगवान की भक्ति न किसी साहित्य के लौकिक अंग को भी इतनी दूर तक प्रभावित किया हो यह बात गायद ससार के इतिहास में और कहीं नहीं हुई है। वस्तुतः ऐसा कवि मन ही मन यह प्रतिज्ञा करके ही कलम उठाता है कि—

‘आगे के सुकवि रीति हैं तो कविताई न तो—
राधिका गुवि सुमिरन को बहानो है।’

इस विराट भक्ति आन्दोलन ने लोक-जीवन को और उसकी भाषा को बहुत अधिक प्रभावित किया। वणव भक्ति ने लामा क चित्त को ही नहीं जीता उसने उनकी जवान पर भी कब्जा कर लिया। तरकारी काटना या कुम्हड़ा चीरना जैसे निर्दोष प्रयोगों में भी हिंसा की गंध पायी गयी और भक्त गहस्थ न इन्हें भी छोड़ देना चाहता। मच्छा वैष्णव मन वचन और कम से अहिंसक होता है अगर जवान में कान्ता या चीरना गान निकल गया तो वह वचन में अहिंसक कहाँ रहा। हम मनाशक्ति ने भाषा के मुहावरों में बहुत परिवर्तन ला दिया। एक व्यक्तिगत अभिज्ञता की बात बनाऊँ। मैं उन दिनों जालन था। कुछ १२ १३ वर्ष की उम्र होगी। हमारे घर एक प्रसिद्ध वणव आचार्य पधार थे। मर ऊपर उनका विगप स्नह था। एक बार वे पूजा पर बैठ थे। जप करत करत उद्गम मुझे कुछ करन का इशारा किया। हमारे का तात्पर्य ठीक ठीक न समझ सकने के कारण मैं उनसे पूछा कि क्या ठाकुरजी का टींग दूँ ? क्षण भर में आचार्य का चेहरा तमतमा गया। अंत में मुझे हाथ उठाते इशारा किया कि भाग जाओ। मुझे वहाँ से भागना पड़ा। मैं मुझे मानम हुआ कि मुझमें बहुत बड़ा अयय था था गया था कि मैं ठाकुरजी का टींग देने की जान कहाँ थी। ठाकुरजी का कूनन पना उचित मुनासरा था। मरी मुनिनी

भाषा से पूज्य की पूजा की अवहलना हुई थी। वैष्णव शिष्टाचार की भाषा मामूली आदमी का भी असम्मान पमद नहा करती, फिर ठाकुरजी की तो बात ही क्या है। मैं जब शान्तिनिकेतन पहली बार आया था तब तब नौकर न एक दिन पूछा कि आपकी सेवा हो गयी ? मैं थोड़ी दूर तक समझ ही न सका। बाद में उसके गन की कठी देखकर खयाल आया कि यह आत्मी वैष्णव है और तब वही समझ में आया कि सेवा अर्थात् भाजन। वैष्णव भोजन में भगवान का सेवा करता है यही मुख्य बात है बाजार में प्रमाद पाना तो गौण बात है। साँ अर्च्छा वैष्णव भक्त किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना नहीं कर सकता कि वह महज पेट के लिए खाता है। असल में वह सेवा करता है। वैष्णव शिष्टाचार की भाषा भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल रूप का निष्पन्न है। इस भाषा में साधारण जनता का भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया था।

निगुण और सगुण भाव के साधका में मौलिक भेद था फिर भी राम नाम का प्रचार करने में दोनों ने पूरा उत्साह दिखाया। इस राम नाम ने उत्तर भारत की जनता की भाषा और जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ा है। राम राम का अर्थ नमस्कार है परन्तु यही राम राम मंत्र भाव से उच्चारित होकर घणा और जुगुप्सा के अर्थ में व्यवहृत होता है। जन्म और विवाह से लेकर मृत्यु तक सबत्र राम नाम के साथ कोई मुहाविरा जुड़ा हुआ है। और तो और खाने-पीने से लेकर पहनने-ओढ़ने तक की वस्तुओं में राम नाम विद्यमान है। वैष्णव जिन वस्तुओं का अपवित्र कहकर त्याग देता है उनके साथ भी राम नाम जाँकर उसमें की अपवित्रता को धादना चाहता है। प्याज को इसीलिए राम लहू कहा जाता है और लहसुन को राम जावा।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में इस्लाम के प्रादुर्भाव की ओर हमने पल ही लक्ष्य किया है। सूफी मतवाद का वह भारतीय रूप जो प्रेममार्गी सन्ता की दन है बहुत लोकप्रिय हुआ था।